...ङ्मय के आलोक में:—

सोम विमर्श

(शोध निबन्ध)

लेखक:— आचार्य डा. वेदपाल सुनीथ
व्याकरणाचार्य M. A. Ph. D.

प्रकाशक— आचार्य योगेन्द्र कुमार उपाध्याय एम. ए.
मन्त्री- श्रीमद्दयानन्द वैदिक संस्थान

प्राप्तिस्थान— (१) गुरुकुल वेदव्यास राउरकेला- ४१, उत्कल

(२) महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर
रोहतक (हरियाणा)

(३) वेदविद्यालय ११६ गौतम नगर, नईदिल्ली

प्रथम संस्करण-१००० वैशाख पूर्णिमा संवत २०४२
सन- १९८५

मूल्य ५-०० (पाञ्च रुपये)

मुद्रक- शान्ति आश्रम प्रेस, गुरुकुल वेदव्यास
राउरकेला- ४१ (उत्कल)

ओ३म्

वैदिक वाङ्मय के आलोक में:—

सोम विमर्श

(शोध निबन्ध)

लेखक:— आचार्य डा. वेदपाल सुनीथ
व्याकरणाचार्य M. A. Ph. D.

प्रकाशक— आचार्य योगेन्द्र कुमार उपाध्याय एम.ए.
मन्त्री- श्रीमद्दयानन्द वैदिक संस्थान

प्राप्तिस्थान— (१) गुरुकुल वेदव्यास राउरकेला- ४१, उत्कल

(२) महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर
रोहतक (हरियाणा)

(३) वेदविद्यालय ११६ गौतम नगर, नईदिल्ली

प्रथम संस्करण-१००० वैशाख पूर्णिमा . संवत २०४२
सन- १६८५

मूल्य ५-०० (पाञ्च रुपये)

मुद्रक- शान्ति आश्रम प्रेस, गुरुकुल वेदव्यास
राउरकेला-४१ (उत्कल)

— भूमिका —

वैदिक वाङ्मय में सोम का उल्लेख अनेक स्थानों में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल का तो एकमेव प्रधान देवता सोम ही है। वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ कितने लचीले, विविध अभिप्रायों के व्यञ्जक तथा व्यापक होते हैं यह एक सर्व स्वीकृत तथ्य है। प्रस्तुत शोध निबन्ध के विद्वान् लेखक ने वैदिक शब्दार्थ प्रक्रिया का ऐतिहासिक निरुपण करने के पश्चात सोम की विस्तृत व्याख्या अनेक दृष्टि कोणों से की है। ब्राह्मणग्रन्थ, मीमांसा, निरुक्त व्याकरणादि वेदव्याख्या में सहायक शास्त्रों के आलोक में सोम को निरुपित करने का यह प्रथम किन्तु व्यवस्थित प्रयत्न है। वैदिक शब्दों की दुर्गति कइ कर कारण थे। मध्यकाल में याज्ञिक प्रणाली का आश्रय लेकर वेदभाष्य करने वाले सायणादि भाष्यकारों के काल तक उन पुराणों का प्रचलन हो चुका था जिनमें अनेकत्र वैदिक सन्दर्भों को कल्पित उपाख्यानों तथा विचित्र गाथाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः इन भाष्यकारों के लिये वैदिक सन्दर्भों को व्याख्या करते समय पुराणोक्त कथाओं का सहारा लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उधर वेदों के पश्चिमी अध्येताओं ने वेदाध्ययन की प्रकृत मौलिक तथा प्राचीन परम्परानुमोदित शैली का आश्रय न लेकर नवीन भाषाविज्ञान तुलनात्मक देवगाथावादादि के सन्दर्भ में वेदार्थ करने का प्रयन्त किया परिणामतः उनका यह वेदार्थ बहुत कुछ कल्पना पूर्ण मूलग्रन्थो के अभिप्राय के विरुद्ध अतः अविश्वसनीय बन गया।

यह प्रसन्नता की बात है कि इस प्रबन्ध के लेखक ने सोम विषयक प्रायः सभी संहिता वर्णित एव ब्राह्मण प्रोक्त सन्दर्भों की सम्यक समीक्षा की है। ऐसा करते समय उसने सोम के विविध अर्थों की सतर्क मीमांसा तो की ही है, ब्राह्मण तथा श्रौत सूत्रों में वर्णित सोमयाग के वास्तविक अभिप्राय को भी स्पष्ट किया है। सोम के सम्बन्ध में अनेक मिथ्या एवं अलीक प्रवाद भी जाने अनजाने प्रचलित हो गये हैं जिनका सम्यक् निराकरण लेखक ने किया है यदि वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में इसी प्रकार के अन्य शोधपूर्ण निबन्ध लिखे जाये तो वैदिक देवता वाद विषयक प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण तो होगा ही, साथ इन देवताओं के स्वरूप का यथार्थ स्पष्टी करण भी हो सकेगा। लेखक साधुवाद के पात्र हैं।

चण्डीगढ़ — डा० भवानी लाल भारतीय

१ मई १९८५ ई. — प्रफेसर तथा अध्यक्ष दयानन्द अनुसन्धान पीठ

पञ्जाब विश्वविद्यालय

लेखक का कृतज्ञता प्रकाशन

तपो विज्ञानपूतात्मा वेदार्थस्य प्रकाशकः ।
प्रणूयते दयानन्द ऋषिकोटिमुपागतः ।।

महर्षि दयानन्द के द्वारा बताये कल्याण पथ पर चलने के लिये शैशवकाल से ही सदा प्रेरणा देनेवाले तपोनिष्ठ आचार्य वर्य स्वामी ओमानन्द जी महाराज के उपकारों के स्मरण से सहसा मेरा मस्तक उनके चरणों में झुक जाता है। प्राचीन आचार्य की भांति सर्वथा निष्काम भाव से जिन्हों ने मुझे पातञ्जल महाभाष्य तक सम्पूर्ण पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया उन पूज्य चरण स्वामी विवेकानन्द जी महाराज (आचार्य प्रभात आश्रम) का मैं सदैव ऋणी एवं आभारी रहूँगा। वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन की महती प्रेरणा मुझे शतपथ भाष्यकार महाप्रज्ञ स्वामी समर्पणा नन्द जी [प. बुद्ध देव विद्यालङ्कार) से प्राप्त हुई । यद्यपि मेरे दुर्भाग्य के कारण उनके सान्निध्य में रहकर वेदाध्यायन का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हो सका यतः दर्शन शास्त्र के अध्ययन के पश्चात उन्हों ने मुझे वेद पढाने का निर्देश दिया था परन्तु इसी अन्तराल में उनका विज्ञानी आत्मा पार्थीव शरीर का त्याग कर गया उनकी दिव्य शरीर मूर्ति आज भी मानस भावों में साक्षात् है तथा वेदाध्ययन की नित्य प्रेरणा देती है उनके लिये मेरे हृदय से सहसा ये शब्द उद्गीर्ण होते हैं—

विद्यालताज्ञानसुचारुपुष्पं घ्रातं निकामं प्रतिभाबलेन ।
येन श्रुति ज्ञानभृतां दिनेन श्रद्धानतस्तं शतशो नमामि ।।

यद्यपि सोम के विषय में लिखने की योजना मेरे मस्तिष्क में बहुत दिनों से थी तथा सामग्री का संकलन भी पर्याप्त हो चुक था परन्तु अनेक कार्यों में व्यासक्त होने के कारण उसे क्रमश. लिखने का कार्य सम्भव नही हो रहा था, साथ में यह भी विचार आता

रहता था कि अभी वैदिक वाङ्मय का और भी गम्भीर अध्ययन करना चाहिये परन्तु पूज्यपाद स्वामी दीक्षानन्द जी की बार-बार की प्रेरणा ने मुझे लिखने के लिये उत्साहित किया वे इस लेख को अपने प्रशस्त पत्र 'वैश्वानर' में क्रमशः प्रकाशित करना चाहते थे। अतः मैंने यथा शीघ्र यथा संक्षेप में यह सोम विषयकलघु शोध निबन्ध पूरा किया पूज्य स्वामी जी का जो अनुकम्पा पूर्ण स्नेहिल भाव मेरे प्रति है एतदर्थ मैं उनका अतीव आभारी हूँ।

दयानन्द चेयर पंजाबविश्वविद्यालय के सम्मान्य अध्यक्ष डा. भवानी लाल भारतीय की अनुग्रह एवं प्रोत्साहन पूर्ण दृष्टि का ही फल यह शोध लेख है। उनकी शोधात्मक श्रमपूर्ण अध्ययन वृत्ति से मुझे प्रतिदिन नूतन स्फुरणा मिलती है अतः वे मेरे सदैव नमनीय एवं पूजनीय हैं।

वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अनुशीलन की प्रेरणा के एक अन्य सतत प्रवाही स्रोत हैं महाविद्वान् प. युधिष्ठिर जी मीमांसक। जिनके दर्शन मेरी अन्तर आत्मा में सदैव नूतन बल प्रदान करते हैं। जिस आर्य समाज से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध जन्म से ही रहा है दुर्भाग्य से सम्प्रति इस संगठन में वेदाध्ययन के प्रति अतीव नैराश्य पूर्ण स्थिति है इस के लिये विरले ही जन सहयोग प्रदान करते है। अतः वेदाध्ययन का मार्ग पूर्ण रूपेण दुर्गमनीय है। इस पथ पर यत् किञ्चित् चलने की प्रेरणा इन वृद्ध गुरुजनों के दर्शन से प्राप्त होती है अत इन के चरणों में मेरा मस्तक बार-बार प्रणत होना चाहता है।

मेरी हार्दिक लालसा है कि इस जीवन का अधिक से अधिक समय परम पिता प्रभु के पवित्र ज्ञान वेद के अनुशीलन में अर्पित करूँ तथा उन दुर्बोध वैदिक रहस्यों का अवगमन करके प्रकाशित करूँ जिस से वैदिक वाङ्मय के प्रती फैली भ्रान्तियां समाप्त हो सकें। मैंने यह योजना स्वामीओम नन्द जी के सामने तथा अन्य स्वजनों केसम्मुख रखी तो उन्होंने पूर्ण सहयोग का वचन दिया उनमें प्रमुख हैं आचार्य हरिदेव जी गुरुकुल गौतम नगर, आचार्य योगेन्द्र कुमार जी एम. ए, श्री भरत कुमार जी एम. ए मेरे अनुज प. राजपाल जी एम. ए पी. एच. डी. तथा व्याकरण के विद्वान आचार्य प्रद्युम्न जी

नैष्ठिक, मेरी धर्म परायण गृहिणी श्रीमती कमलेश व्याकरणाचार्य पूज्य स्वामी त्यागा नन्द जी महाराज तथा पितृवत स्नेह रखने वाले बा. यज्ञ मुनि जी ने भी अपना हार्दिक आशीर्वाद एतदर्थ प्रदान किया। अतः इन सब महानुभावों का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ

मेरे अत्यन्त स्नेहपात्र श्री भरत कुमार जी M.A. ने इस लघु ग्रन्थ की प्रेस कॉपी अतीव श्रद्धाभाव से तैयार की तथा श्री आचार्य योगेन्द्र कुमार जी M.A. ने पूर्ण मनोयोग से प्रूफ-शोधन कार्य किया । विशेषकर शान्ति आश्रम प्रेस के मैनेजर श्री पाण्डव कुमार शास्त्री तथा श्री परमेश्वर जी ब्र. लक्ष्मणकुमार आर्य, आदि ने भी बडे मनोयोग से कार्य करके शीघ्र ही इसे प्रकाशित किया एतदर्थ इन सबको मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

विदुषामनुचरः

वेदपालः

★वैदिक वाङ्मय में सोम★

लेखक आचार्य वेदपाल एम. ए.
रिसर्चस्कालर, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

वैदिक वाङ्मय में अग्नि इन्द्र आदि के समान सोम का वर्णन भी सैकडो सूक्तों तथा मन्त्रो में किया गया है। ऋग्वेद का नवम मण्डल प्रायः पूरा का पूरा सोम के लिये समर्पित कर दिया गया है। एक दो नहीं अपितु १२३ सूक्त अकेले ऋग्वेद मे विद्यमान है। कुछ अन्य सूक्तों में भी सोम की चर्चा अशंत उपलब्ध होती है। सामवेद का एकतिहाई भाग सोम का स्तवन कर रहा है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी सोम की चर्चा अतिशयेन उपलब्ध होती है। सहस्राधिक मन्त्र में बर्णित तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अगणित स्थानों पर अन्वाख्यात "सोम" का वास्तविक स्वरूप क्या है, वेद तथा वेद-व्याख्याताओं के मस्तिष्क में सोम विषयक क्या निश्चित धारणा थी इसका निश्चय आज तक भी वैदिक वाङ्मय के अध्येता एकमत होकर नहीं कर सके।

यह सही है कि एक बहुत लम्बे समय से वह गुरु शिष्यपरम्परा छिन्नभिन्न हो गई जिससे वैदिक रहस्यों का सम्यग् अवगमन सम्भव था। और आज हम वैदिक युग के ऋषियों की भाषा भावाभिव्यक्तियों से इतने दूरतक पहुंच गये जहांपर खडे होकर हम उसके यथार्थ भावों को खोजने में कृतकारी नहीं हो सकते, पुनरपि वैदिक शब्दों के यथार्थभावों को खोज लेना असम्भव नहीं सर्वथा माना जा सकता क्यों कि आज भी हमारे पास वैदिक शब्दों के तत्वावबोध करने के विपुल साधन विद्यमान है। परन्तु इसके लियेआवश्यक है निरपेक्ष दृष्टि होकर वैदिकवाङ्मय के विशाल समुद्र में अवगाहन करने की, अद्यतनीय प्रचलित शब्दशक्ति एवं भाव प्रकाशन शैली का परित्याग करके आर्ष युग में अपने आपको विलीन करने की, इसके लिये परम आवश्यकता है दीर्घकालीन अध्ययन श्रमशीलता की। यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि किन्हीं धारणाओं से आवेष्टित मन से किया गया पर्याप्त अध्यायन

भी हमें तथ्यों के समीप पहुँचाने में सहयोगी सिद्ध नहीं हो सकता इसके विपरीत अपेक्षित श्रम का अभाव भी भ्रान्त धारणाओं का कारण बन जाता है। अनुसन्धान के क्षेत्र में ये सब बाधक लक्ष्मण रेखाएं है जिनको छोडे बिना कोई भी विद्वान् तथ्यों के नजदीक नहीं पहुच सकता। यथार्थता यह है, अनुसन्धान का काम सब कोई नही कर सकते क्यों कि प्राय: अधिकतर लोग किन्हीं न किन्हीं साम्प्रदायिक धारणाओं के मजबूत तन्तुओं से जकडे रहते हैं और वे अपने घेरे से बाहर निकल कर वैदिक वाङ्मय के शुद्ध पर्यावरण में आसीन होने का साहस नहीं कर सकते। और यही कारण है कि वे यथार्थता से दूर रहकर अपनी मनमानी सम्मति प्रकट कर देते हैं जिसके कारण जन सामान्य भ्रमित हो जाता है। इसलिये यदी हम "साम" का वास्तविक स्वरूप जानना चाहते हैं तो हमारे लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम पूर्ण धैर्य के साथ पार्श्विक प्रचलित धारणाओं का परित्याग करके उन साधनों का उपयोग करें जो हमें सच्चाई तक पहुँचा सकें।

वैदिक युग के ऋषियों ने मानवी प्रज्ञा की अल्पता तथा ग्रहण शक्ति की न्यूनता को जानकर ही अनेक शास्त्रों की रचना की थी जिनके सहारे से असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्य आसानी से वेदार्थ का अवगमन कर सकें[1]। यह सौभाग्य की बात है कि उन ऋषि ग्रन्थों में से शताधिक ग्रन्थ रत्न आज भी भारतीय तपस्वी ब्राह्मणों की कृपा से हमें प्राप्त हैं। इन ग्रन्थों में व्याकरण, निरुक्त, मीमांसा तथा ब्राह्मण वाङ्मय शब्दार्थ बोध में हमारी बहुत अधिक सहायता करता है। हम अपने इस शोध लेख में इन शास्त्रों का उपयोग पूर्ण सावधानतो के साथ करना चाहते हैं।

व्याकरण—व्याकरण शास्त्र पर यद्यपि सैकडों आचार्यों ने ग्रन्थों का प्रणयन किया होगा परन्तु आज हमारे पास पाणिनि मुनि द्वारा प्रोक्त व्याकरण ग्रन्थ ही उपलब्ध है। कुछ लोग पाणिनीय व्याकरण की लक्ष्यगामिता केवल शब्द साधुत्व बताना ही समझते हैं। मेरे विचार में यह उचित नहीं। पाणिनीय व्याकरण पर जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो उसका लक्ष्य शब्दों के प्रकृति प्रत्ययों का ठीक ज्ञान कराकर शब्द की सम्भावित अर्थ शक्ति का ज्ञान कराना प्रतीत होता है, और भाषा के ज्ञान का प्रयोजन भी

यही है कि हम शब्दों के सही अर्थों को जानकर उस भाषा में अपने भावों का प्रकाशन कर सकें तथा इतर व्यक्ति द्वारा प्रोक्त वाक्यों का यथार्थ भाव हृदयङ्गम कर सकें। हमारी इस धारणा की पुष्टि पाणिनीय व्याकरण के मूर्धन्य आचार्य भर्तृहरि की निम्न कारिका से भी होती है—

—अर्थप्रकृतित्तत्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्वावबोधशब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ।। वाक्यपदीय.१-१३

इसी के साथ इस तथ्य को भी हृदयङ्गम रखना चाहिए कि पाणिनीय व्याकरण की रचना का मुख्य उद्येश्य वैदिक शब्दों का अर्थतत्व प्रकाशित करना है। कुछ वैयाकरण साथियों को मेरी यह उक्ति सम्भवतः उटपटी प्रतीत होगी, परन्तु पाणिनीय व्याकरण के प्रमाणगत प्रवक्ता आचार्य पतञ्जलि की मान्यता हमारे अनुकूल उपलब्ध होती है। यथा व्याकरण के प्रयोजन प्रस्तुत करते हुए आचार्य ने वेदों की रक्षाही व्याकरण का मौलीभूत प्रयोजन बताया है[2] । भर्तृहरि की निम्नकारिका भी इस प्रसंग में पठनीय है—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गमाहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ वा.प. १-११
अत्रातीतविपर्यास केवलामनुपश्यति ।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम् ।। वा.प १ १७

अतः वैदिक वाङ्मय के अध्येताके लिये व्याकरण स्शात्र का सम्यग ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है। जो अध्येता वैदिक शब्दों की यथार्थ अर्थशक्ति के अवबोध में वैयाकरणिक अर्थबोधक सूत्रों की अवहेलना करता है वह गवेषक महान उद्योग करने पर भी वैदिक शब्दों के सही भावों तक पहुँचने में कदापि सफल नहीं हो सकता ।

वैयाकरणों की शब्दशक्तिविषयक धारणा-

आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ में लगभग दो सहस्र धातुओं के एक वा अनेक तर्थों का निर्देश किया है। इसी प्रकार तिङ्कृत तद्धितादि प्रत्ययों के अर्थों का निर्देशन भी आचार्य ने वडी सूक्ष्मता के साथ किया है। इन सब अर्थों को बुद्धिस्थ रखना तो हमारे लिये आवश्यक है ही साथ में इस तथ्य को भी सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि ये सब अर्थ निर्देश भी पूर्णनहीं, अपितु

यथा सम्भव संकेत ही है। देव भारती के शब्दों की अर्थशक्ति बडी विचित्र है। उन सब शक्तियों का निर्देश लक्षाधिक सूत्रों में भी करना शक्य नहीं। इस प्रसंग में महाभाष्यकार के निम्न वचन महत्वपूर्ण हैं—

असम्भव खल्वपि-अर्थादेशनस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम्। महाभाष्य-२-१-१

इस भाष्य वचन का तात्पर्य स्पष्ट है कि बडे से बडा शब्दशास्त्री भी शब्दो के अर्थों का साकल्येन निर्देश नहीं कर सकता। आचार्य पाणिनि ने भी प्रत्ययों के अर्थ निर्देश के प्रकरण में अन्ततो गत्वा बहुल का आश्रय लेना उचित समझा [3]। धातुपाठ में भी कुर्द खुर्द, गुर्द गुद् क्रीडायामेव[4]" सूत्र में एवकार के द्वारा यह संकेत कर दिया कि धातुओं के अर्थ निर्देशन में पूर्णता नहीं है। अतः निःसंकोचतया कहा जा सकता है कि व्याकरण यथा सम्भव अर्थों का विज्ञापक शास्त्र है, जिसके सहायता से हम सहजतया शब्दों के अधिक सम्भावित अर्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सोमशब्द का अर्थ—

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सोम शब्द सु धातु से औणादिक [5] मन् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। पाणिनीय धातुपाठ में सु धातु चार स्थानों पर ह्रस्वान्त पठित है तथा दो स्थानों पर दीर्घान्त पठित हैं। उनका अर्थ विवरण इस प्रकार है —

(१) षुञ् प्रसवैश्वर्ययोः	स्वादिगण में।
(२) षु "	अदादि गण में।
(३) षुञ् अभिषवे	स्वादि गण में।
(४) षु प्रेरणे	तुदादिगण में।
(५) षूङ् प्रसवैश्वर्ययोः	दिवादिगण में।
(६) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने	अदादि गण में।

इस प्रकार सु धातु के अर्थ उत्पन्न होना, ऐश्वर्यसम्पन्न होना, प्रेरणा करना, अभिषव करना आदि अनेक है। अभिषव का अर्थ माधवीया धातुवृत्ति में स्नान करना कराना, सुरासन्धान प्रक्रिया से रस निकालना आदि बताये हैं[6] उपर्युक्त अर्थोवाली सु धातु से सोम शब्द निष्पन्न होता है। सोम में जो मन् प्रात्यय हुआ है वह किन अर्थों

का प्रत्यायक यह भी जानना आवश्यक है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार औणादिक प्रत्ययों का अर्थ निर्देशन इस प्रकार है —

ताभ्यामन्यत्रोणदय.। अष्टाध्यायी-३-४-७५

पाणिनि का यह सूत्र औणादिक प्रत्ययों के अर्थनिश्चय में अतीव महत्वपूर्ण है। वैदिक वाङ्मय के अध्येताओं को प्रस्तुत सूत्र के भाव को सदैव स्मृतिगत रखना चाहिये, अन्यथा वैदिक वाङ्मय की संगति लगाना असम्भव ही प्रतीत होगा। औणादिक प्रत्यय कृत संज्ञक ही होते है, अतः कर्तरिकृत् (३-४-६७) इस सामान्य नियम से कर्त्ता में ही प्राप्त होते हैं। परन्तु आचार्य कहते हैं, नहीं औणादिक प्रत्यय केवल कर्त्ता में ही नहीं होते अपितु सम्प्रदान तथा अपादान को छोड़कर शेष अन्य सभी कारकों मे होते हैं। पाणिनि के इस नियम के अनुसार सोम शब्द का अर्थ सम्पदा का चिन्तन करना चाहिये। जिसका सांकेतिक निर्देशन इस प्रकार किया जा सकता है —

(१) सुनोति य: स सोम:। — जो रसादि निचोडता है। (कर्त्ता कारक में)

(२) सूयते य: स सोमः। — जिसको निचोडा जाता है। (कर्म कारक में)

(३) सुनोति येन स सोमः। — जिस से निचोड़ते हैं। (करण कारक में)

(४) सुनोति यस्मिन् स सोम:। — जिसमे निचोडते हैं। (अधिकरण कारक में)

अन्य धातुओं के साथ भी इसी प्रकार अर्थ योजना करनी चाहिये। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार सोम शब्द की अर्थ शक्ति कितनी विशाल है इस पर विबुध पाठक विचार करें। यह हो सकता है कि आज हिन्दी आदि मानुषी भाषाओं के शब्दों में इस प्रकार की अर्थ प्रकाशन शक्ति न हो, परन्तु वैदिक शब्दों की अर्थशक्ति अतीव अद्भुत है। वस्तुतः पाणिनि प्रभृति महावैयाकरण जिन्हें ने पारस्परिक शब्दार्थतत्वज्ञों का सान्निध्य प्राप्त करने का सौभाग्य उपलब्ध हुआ था, और जिन्होंने वैदिक शब्दों की आत्म

का प्रत्यक्ष करने का महान् उद्योग किया था, जिन्होंने वैदिक, ऋषियों की अविछिन्न वंशपरम्परा में जन्म लेकर वेदभानु के शुभ्रालोक में नेत्रोन्मेष करने का सुखद अवसर प्राप्त हुआ था, उनके द्वारा निबद्ध सूत्र आज भी उस वैदिक युग तक पहुँचने के विशाल एवं विषय पथ पर दीपस्तम्ब का काम कर रहे हैं। आवश्यकता है हम इन दीपस्तम्बों के आलोक में आगे बढ़ें। इसलिये हम पूरी दृढ़ता के साथ लिखना चाहते हैं कि वैदिक वाङ्मय के प्रत्येक अध्येता को व्याकरण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थनिर्देशों से परिचित होना पडेगा अन्यथा वे मन्त्रार्थ परिज्ञान के प्रथम पड़ाव में ही स्खलित होकर महान् विभ्रम गर्त्त में गिर पडेंगे। आचार्यवर्य यास्क ने कितना सुन्दर आदेश दिया—

नाऽवैयाकरणाय । निरुक्त २-१-३

अर्थात् व्याकरण के ज्ञान से शून्य को निरुक्त पढ़ने का अधिकार नहीं है।

निरुक्त शास्त्र –

व्याकरण जहाँ निरपेक्षदृष्टिक होकर शब्द की सम्भावित अर्थ-शक्ति का प्रत्यायक शास्त्र है वहाँ निरुक्त एक ऐसा शास्त्र है जो प्रकरणानुरोध से अभिव्यज्यमान अर्थ को लक्षित करके वैदिक शब्दों के निर्वचन प्रस्तुत करता है इसलिये ग्रन्थारम्भ में ही आचार्य यास्क ने निरुक्त शास्त्र की प्रयोजनीयता इस प्रकार प्रकट की—

"अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते । अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च"। निरुक्त १-५-४

इन नैरुक्त वाक्यों से स्पष्ट विदित होता है कि वैयाकरणों तथा नैरुक्तों को शब्दसंस्कार तथा निर्वचनों का प्रमुत्व आधार निगमागमवाक्यों द्वारा अभिव्यजमान अर्थ ही है। इन प्राचीन भाषा शास्त्रियों ने जो भी अर्थनिर्देश किये है उनको, इन आचार्यों की नैजी बुद्धिप्रगल्भता मानकर इन पर स्वच्छन्द चारिता का दोषारोपण करना हमारे विचार में वैदिक वाङ्मय का सूक्ष्मानुशीलन न करने का परिणाम ही है। यास्क ने स्वेच्छाचारिता के दोष की आशङ्का का निवारण करने के लिये ही सम्भवतः निरुक्त के आरम्भ मे इस प्रकार की घोषणा की है कि—

(१) अर्थानन्वितेऽर्थे अप्रादेशिके विकारे अर्थ नित्यः परीक्षेत केनचित् वृत्ति सामान्येन ।

(२) न संस्कारमाद्रियेत । विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति ।

यास्क के इन बचनों सेयह भी सुतरां सिद्ध है कि शब्दविवेचन में अर्थ की प्रधानता है । इस लिये व्याकरण प्रोक्त संस्कार से व्यामुग्ध होकर अर्थ करना भी सर्वत्र औचित्येयोपेत नहीं है, क्योंकि शब्द की अर्थ शक्ति बडी विचित्र है, किसी प्रसंग में कोई शब्द किसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो किसी अन्य प्रसंग में दूसरे ही अर्थ को प्रकाशित करता है । उदाहरण के रूप में प्रवीण शब्द को लीजिये व्याकरण शास्त्र के अनुसार इसका अर्थ "प्रकृष्टो वीणायां यः सः प्रवीणः" इस प्रकार यह शब्द वीणावादक के कौशल का वाचक ही होगा । परन्तु "प्रवीणो व्याकरणे" "प्रवीणो यज्ञे" आदि वाक्यों में हमें हठात व्याकरण प्रोक्त अर्थ का तिरस्कार करना पडेगा । इसी प्रकार उदार, कुशल आदि शब्दों को भी लिया जा सकता है । इस लिये निः संकोच होकर कहा जा सकता है कि निर्वचन के बलपर शब्द का अर्थ निश्चय नहीं होता अपितु अर्थ के बल पर निर्वचन किया जाता है । अतः आचार्य दुर्ग ने निर्वचन शब्द का निर्वचन अपनी निरुक्त टीका में इस प्रकार प्रस्तुत किया

"अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृत्य विगृह्यवचनं निर्वचनम्" निरुक्त २-१-१

इस लिये शब्द के अर्थ का निर्धारण अन्तिम रूप से प्रयोग स्थल में ही प्रकरणादि के अनुरोध से किया जा सकता है । इस लिये यास्क ने प्रकरणानुरोध से शब्द निर्वचन करना चाहिये यह पूर्ण दृढ़ता के साथ प्रतिपादित किया है ।

इस सारी विवेचना से यह सार निकलता है कि शब्द शक्ति अत्यन्त व्यापक एवं अद्भुत है । जिसके समझने में निरुक्त शास्त्र भी हमारी व्याकरण के समान सहायता करना चाहता है । इस प्रसंग में यह कथन कर देना भी आवश्यक है कि वैदिक शब्दों के अन्तिम अभिप्राय को किसी अर्थ नियामक शास्त्र से परिभाषित करना

सर्वथा असम्भव है। शब्दों के सही अर्थों का निश्चय तो प्रयोगस्थल में ही होगा जहां शब्द अपने सही भाव को प्रकट करने की शक्ति लेकर बैठा है ।

निरुक्त और सोम—

यास्कीय निरुक्त में सोम शब्द अनेक बार आया है। यास्क ने सोम शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—

ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनभमिषुण्वन्ति । निरुक्त ११-१-१

इस निर्वचन की सूक्ष्म परीक्षा करने से विदित होता है कि यास्क का यह निर्वचन केवल ओषधि की सोमात्मकता सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त हुआ है। इस निर्वचन के सहारे से यह तात्पर्य लेना कि यास्क को सोम शब्द का अर्थ मात्र ओषधि अभीष्ट था सर्वथा अयुक्त है, क्यों कि ऐसा मान लेने से यास्क के अग्रिम ग्रन्थ के साथ महान् विरोध मात्र उत्पन्न हो जायेगा जहां सोम के विविध अर्थों को स्वीकार करके मन्त्रव्याख्यान प्रस्तुत किये है। इस लिये इस निर्वचन का तात्पर्य ओषधी की सोमात्मकता सिद्ध करना है क्यों कि ओषधियों का भी रस निकाला जाता है। अतः ओषधियां भी सोम कहलाती हैं।

प्रस्तुत निर्वचन के अनन्तर निरुक्तकार ने एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्देश सोम के विषय में दिया है जो इस प्रकार है—

बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तमाश्चर्यमिव प्राधान्येन ।

इसका भाव यही है कि सोम का वर्णन या स्तवन वैदिक ऋचाओं में अधिकतया परार्थ किया गया है। सोम प्रधान स्तुतियां भी कहीं कहीं की गई हैं जो बडी अद्भुत है । सुधी पाठकों को यास्क के इस वचन को सदैव स्मरण रखना चाहिये क्योंकि सोम परक वैदिकवाङ्मय को समझने में यह हमारी महती सहायता करेगा । क्योंकि सोम का निर्माण इन्द्रादि देवताओं के लिये किया जाता है इसलिये सोम को ब्राह्मणकारों ने अन्न के रूप में निरूपित किया है[7] जिसका विस्तारपूर्वक निरूपण आगे करेंगे ।

अस्तु प्रकृतमनुसरामः । निरुक्त के पारायण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यास्क को भी सोम के अनेक अर्थ अभीष्ट थे । जिनका

निर्देश निरुक्त में इस प्रकार उपलब्ध होता है ।

१- सोम ओषधिः । ११-१-२

१- अथैषापरा भवति चन्द्रमसो वा एतस्य वा । ११-१-४

३- सोम सूर्यःप्रसवनाज्जानिता गतीनां प्रकाशकर्मणामादित्य-रश्मीनाम् । नि १४-५

४- अथाध्यात्मम्- सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः । नि १४- ५ ।

५-अपि वा विसूतिभिर्विभुततमम् आत्मा (सोम) इत्यात्म गतिमाचष्टे,

इसी प्रकार "ब्रह्मदेवानां पदवी कवीनाम्" ऋग्वेद ९-९६-६ तिस्रो वाच ईरयति,, ऋ ९-९७४ "सोमं गावो,, ऋ ९.९७-३५ आदि मन्त्रों के व्याख्यान में भी आचार्य यास्क ने अधिदैवत पक्ष मेंसोम का अर्थ सूर्य तथा अध्यात्म पक्ष में आत्माग्रहण किया है [8]। इसी प्रसंग में आचार्य यास्क ने इन्दु तथा विधु का अर्थ भी आत्मा किया है,[9] वैदिक वाङ्मय में ये दोनों शब्द सोम के लिये अनेकत्र प्रयुक्त देखे जा सकते हैं [10] ।

उपर उद्धृत यास्क वचनों से विस्पष्ट हो गया है कि यास्क को सोम का अर्थ मात्र ओषधि कदापि अभीष्ट नहीं था । जो विद्वान् सोम का अर्थ मात्र औषधि ग्रहण करने की बुद्धि से व्यामुग्ध हैं उन्हें यास्क के इन वचनों पर ध्यान से विचार करना चाहिये । मैं समझता हूँ यदि वैदिक वाङ्मय के जिज्ञासु अध्येता सोमपरक वैदिक वाङ्-मय का पारायण समाहितचित्त से करेंगे तो यास्क की भावना समझ में आजायेगी, क्यों कि हम आगे देखेंगे कि वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र सोम का अर्थ ओषधि करना सर्वथा असम्भव होगा । इस लिये आचार्य यास्क ने "सोम ओषधिः" न लिखकर "ओषधिः सोमः' का निर्देश किया जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह भाषित होता है कि ओषधि या ओषधि विशेष को भी सोम कहा जाता है । कर्मकाण्ड के क्षेत्र में गृह्यमाण सोम एक ओषधि ही होता है जो वस्तुतः नाना-विभूतियों से विभूततम आत्मा का ही प्रतीकरूप है । जिसकी विवेचना आगे सोमयाग के प्रकरण में प्रस्तुत की जायेगी ।

वैदिक शब्दों के विषय में मीमांसाकार का मत । —

वैदिक वाङ्मय के कर्मकाण्ड परक वाक्यों की मीमांसा

करना तथा उनका समन्वय प्रस्तुत करना मीमांसा शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। वैदिक वाङ्मय को मुख्य रूप से हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं जिनमें प्रथम कर्मकाण्ड तथा दुसरा ज्ञानकाण्ड है। वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से स्पस्ट प्रतीत होता है कि उसके अधिकतम भाग कर्मकाण्ड के लिये संमर्पित है। इसी कर्मकाण्ड का नाम यज्ञ है और यज्ञ ही धर्म है अत एव मीमांसाकार ने अपने कर्मकाण्डीय शास्त्र को प्रारम्भ करते हुये घोषणा की—

अथातो धर्मजिज्ञासा।

कर्मकाण्ड अथवा यज्ञयागों की मीमांसा को धर्म जिज्ञासा कहने का रहस्य क्या है, इस पर कुछ विचार कर लेना उचित होगा। जिन लोगों ने कर्मकाण्ड के मूल ग्रन्थों का अनुशीलन गम्भीरता से नहीं किया वे लोग इस मीमांसा सूत्र की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि यज्ञयागों का विधि पूर्वक अनुष्ठान ही धर्म है। उनकी यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। प्रथम तो वेदानुगामी ऋषियों ने कहीं भी यह नहीं लिखा कि यज्ञयागों का अनुष्ठान ही धर्म है। स्वयं मीमांसाकार ने भी धर्म का लक्षण इस प्रकार सूत्रित किया है-

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः १-१-२

अर्थात् प्रेरणा (वेदवचनों) से लक्षित होनेवाला अर्थ-निःश्रेयस में कारण भूत कर्मानुष्ठान ही धर्म है।

पर जब हम मीमांसा शास्त्र का अध्ययन करते हैं तो स्पस्ट प्रतीत होता है कि मीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रत्यक्षतया कर्मकाण्ड परक श्रुतिवाक्यों की अर्थयोजना प्रस्तुत करना ही है। तो फिर क्या जैमिनि जैसा ऋषि जिसे भारतीय प्रज्ञा ने प्रामाणिक आप्त पुरुषो की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया है. वह अपने प्रतिपाद्य के विपरीत प्रतिज्ञासूत्र का निबन्धन कर सकता है? यह सर्वथा असम्भव है! इस लिये इस प्रतिज्ञा सूत्र का समन्वय मीमांसा शास्त्र के साथ करने के लिये कर्मकाण्ड के आकार ग्रन्थों के आलोक में हमे गम्भीर विचार करना पडेगा। मैने कर्मकाण्डीय ग्रन्थ जो ब्राह्मण ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं उनका एकाधिक बार अनुशीलन किया है, अपने दीर्घकालिक स्वाध्याय के परिणाम स्वरुप, मैं निःसंकोच भाव से यह लिख रहा हूँ कि दर्श पूर्णमास से लेकर अश्वमेधान्त कर्मकाण्ड की

लक्ष्यगामिता हमारे जीवन में अनुष्ठातव्य कर्मों का विज्ञान प्रकाशन करना है। जिन से मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय को प्राप्त करके अन्ततोगत्वा ज्ञानकाण्ड के अध्ययन का अधिकारी बनकर अपने परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके। इस प्रकार सारा कर्मकाण्ड जो प्रत्यक्षतया किया जाता है वस्तुतः वह मानवीय धर्म का बोधक है। और यह पूर्ण सत्य है कि धर्मानुष्ठान से पवित्रीकृतान्तःकरण व्यक्ति ही ब्रह्मजिज्ञासा का वास्तविक अधिकारी है। यही कारण है कि उत्तर मीमांसा के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मविद्यापरकश्रुतिवाक्यों की अर्थ योजना को प्रतिपादित करने वाला वेदान्त दर्शन "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा,, इस प्रतिज्ञा सूत्र के साथ प्रारम्भ होता है। अतः ब्राह्मणग्रन्थों में व्याख्यात कर्मकाण्ड केवल प्रत्यक्षतया अनुष्ठान तक सीमित नहीं अपितु उस कर्मकाण्ड से अभिव्यज्यमान कर्मों का अनुष्ठान वास्तविक यज्ञ है, तथा वे शुभ कर्म ही धर्म शब्द से बोधित होते हैं। यदि केवल प्रत्यक्षात्मक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान ही धर्म होता है तो जैमिनि धर्म का लक्षण "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' न लिखकर यह लिखते कि "सविधिकंयागानुष्ठानं धर्मः" अर्थात् विधिपूर्वक यागानुष्ठान ही धर्म है। इस प्रसंग में मीमांसा सूत्रों के प्रख्यात भाष्यकार शबर स्वामी के ये वचन भी पठनीय हैं—

'एवं हि श्रेयस्करो जिज्ञासितव्यः. किं धर्मजिज्ञासया ? उच्यते य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते। कथमवगम्यताम् ? यो यागमनुतिष्ठति तं धार्मिकं इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते यथा पाचको लावक इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते। न केवलं लोके' वेदेऽपि "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋग्वेद १०-९०-१६) इति यजति शब्दवाच्यमेव धर्मं समाम्नन्ति। मीमांसा १-१-२ भाष्ये।

जो विद्वान प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड के सर्वाधिक अनुष्ठान को ही निःश्रेयस का हेतु भूत धर्म समझते हैं, लगता है उन्होंने कर्मकाण्ड के मूलग्रन्थों के अनुशीलन में कुछ भी श्रम नहीं किया यदि मात्र दर्शपूर्णमासादि यज्ञों का प्रत्यक्ष अनुष्ठान निःश्रेयस प्राप्ति कराने में समर्थ होता तो ब्राह्मणकार सर्वत्र कर्म-काण्डीय विधिविधानों की उपपत्तियाँ दर्शाने का महान उद्योग

क्यों करते और मन्त्रार्थ देने की क्या आवश्यकता थी ? कर्मकाण्ड के अनुष्ठान मेंही कर्त्तव्य की पूर्णता मानने वाले विद्वानों के पास इसका कोई समाधान नहीं, समाधान होता भी कहाँसे, क्योंकि यथार्थता यह है कि कर्मकाण्ड के सब विधि विधान प्रतीकात्मक हैं और इनके प्रतीयमान अर्थ ब्राह्मणकारों ने प्राय सर्वत्र प्रकाशित किये हैं । इसलिये यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले पात्र तथा हविष द्रव्य किन्हीं विशेष अर्थों के द्योतक हैं । इन वाह्य प्रतीकों का चयन मन्त्रार्थ प्रकाशक साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने गुणसाम्य के आधार पर किया है। जिसका निर्देश मीमांसाकार ने भी स्पष्ट रूप से इस सूत्र द्वारा दिया है। सारूप्यात् । मी० १-४-२५

प्रस्तुत सूत्र की शबर स्वामी द्वारा कृत व्याख्या उपस्थित करना उपयुक्त होगा । आज हमारे पास मीमांसा का सबसे प्राचीन व्याख्यान शबर स्वामी का ही प्राप्त है । विश्वास किया जा सकता है कि शबर स्वामी ने किसी न किसी रूप में मीमांसासूत्रोंकी प्राचीन अर्थ परम्परा का अनुगमन किया होगा। उनका सूत्र व्याख्यान इस प्रकार है—

यजमानो यूपः, आदित्यो यूपः, इत्यादि श्रूयते । तत्र गुणविधि अर्थवाद इति सन्देहः । अर्थवत्त्वाद् गुणविधिः । अशक्यत्वाद् यूपकार्यं साधने यजमानस्य यजमानकार्यं साधने वा यूपस्य ।

विध्यन्तरभावाच्च नविधिः । विधिस्तुत्यर्थः संवादः गुणवादात् सामानाधिकरण्यम् । को गुणः ? सारूप्यम् । किं सारूप्यम् ? ऊर्ध्वता तेजास्विता च । तस्मादेवञ्जातीयकोऽर्थवादः ।

शबर स्वामी कृत यह सूत्रव्याख्यान पूर्णतया स्पष्ट है । यजमानोवै यूपः" इत्यादि श्रुतिनिर्देश इस रहस्य के प्रतिपादक है कि यूप यजमान किंवा सूर्यका प्रतीक गुणसादृश्य के कारण बनाया गया है। जो विद्वान् यूप की प्रयोजनियता मात्र यज्ञिय पशु के बन्धनार्थ ही स्वीकार करते है उनको शतपथ ब्राह्मण के यूप सम्पादन ब्राह्मण का अनुशीलन समानस्क होकर करना चाहिये । वहां ब्राह्मणकार ने यूप का प्रतीकार्थ विस्पष्ट शब्दों में इत्थं प्रकट किया है—

यजमानो वा एप निदानेन यद् यूपः । शत० ३-७-१ ११

पाठकगण के परितोषार्थ इस शातपथ वचन का सायण व्याख्यान प्रस्तुत कर रहा हूँ । (क्रमशः)

यजमाननिष्पाद्यस्य यागस्य यूपेनापि निष्पाद्यत्वात् तत्सिद्धिन्याय्याद् यजमान एव यूपत्वेनोपचर्यते।

अतः बिना किसी हिचकिचाहट के यह स्वीकार किया जा सकता है कि कर्मकाण्ड में प्रयुज्यमान यूपादि बाह्य प्रतीक वस्तुतः यजमानादि के प्रत्यायक हैं। प्रतीक का चयन अधिक से अधिक गुण समानता के आधार पर ऋषिप्रज्ञा ने किया था। इस लिये यूप का निर्माण एक आदर्श यजमान के गुणों को स्वुद्धिथ करके किया जाता है। इस लिये यूप की लम्बाई यजमान के समान बनाई जाती है तथा उसपर नवनीत आदि लगाकर उसे चमकाया जाता है। यूप के इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण के त्रयोदश काण्ड का एक अन्य सन्दर्भ प्रस्तुत कर रहा हूँ जिससे यूप के वास्तव को समझने में सहायता मिलेगी तथा पाठक गण कर्मकाण्डीय वेदव्याख्यान शैली को ठीक जान सकेंगे। शतपथ सन्दर्भ इस प्रकार है—

अप वा एतस्मात् तेजो ब्रह्मवर्चसं क्रामति। योऽश्वमेधेन यजते। होता च ब्रह्म च ब्रह्मोद्यं वदतः। आग्नेयो वै बार्हस्पत्यो ब्रह्म। ब्रह्म बृहस्पतिः तेजश्चैवास्मिन् ब्रह्मवर्चसं च समीची धत्तः। यूपमाभितो वदतः। जयमानो वै यूपः। यजमानमेवैतत् तेजसा च ब्रह्मवर्चसेन चोभयत परिधत्तः। शत - १३।

हमारे विचार में इस शतपथ सन्दर्भ को पढ लेने पर अध्येताओं को यह स्वीकार करने में कोई संकोच नही हांगा कि प्रत्यक्षात्मक क्रियमाण यज्ञों में यूपादि वस्तुतः यजमानादि के प्रतीकभूत हैं। क्योंकि काष्ठ विशेष से निर्मित यूप में ब्रह्मवर्चस का आधान कथमपि सम्भव नहीं, अतः जिस प्रकार काव्य में प्रतीयमान ध्वनि की प्रधानता होती है, इसी प्रकार कर्मकाण्ड में भी अन्तिम प्राधान्य प्रतीकार्थ का है, तथा वही वेदार्थ है। बाह्य प्रतीकों का समाश्रयण तो गुणसाम्य के कारण कियागया है, जिसका निर्देश "सारूप्यात्" सूत्र से मीमांसाकार ने किया है। यहाँ यह प्रश्न उठया है कि इन प्रतीकों के समाश्रयण की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर यह है कि इस प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड की पद्धति से वेदार्थ का प्रकाशन सुकर तथा रुचिपूर्ण हो जाता है। इस पद्धति से मन्त्रार्थ का एक तरह

का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है जिससे द्रष्टा अधिक आसानी से मन्त्र-भावों को आत्मसात् करने में सफल हो जाता है। इस प्रकार समस्त वेदार्थ का प्रबोधक यह बाह्य कर्मकाण्ड है। यही वेदार्थ धर्म का सही प्रकाशक है, इसलिये मीमांसाकार ने कर्मकाण्ड के समन्वय प्रतिपादक सूत्र ग्रन्थ को धर्मजिज्ञासा की संज्ञा दी है।

शब्दशक्ति को समझने के लिये मीमांसा शास्त्र का गम्भीर अनुशीलन वैदिक वाङ्मय के छात्रों के लिये अतीव अनिवार्य है। मीमांसाकार ने अनेक सूत्रों में वैदिक शब्दों की अर्थ प्रकाशन शक्ति की शैली की विवेचना की है। लेख विस्तार संकट के भय से कुछ प्रमुख सूत्रों की विवेचना ही यहाँ कर रहे है जिससे प्रबुद्ध अध्येता अनुमान लगा सकेंगे कि वैदिक शब्दों की अर्थ शक्ति के विषय में महर्षि जैमिनि की धारणा क्या थी? सबसे प्रथम हम शब्दार्थसम्बन्ध बोधक व्याकरणकोशादि शास्त्रों के विषय में जैमिनि की क्या सम्मति है यह प्रस्तुत कर रहे हैं।

गुणादप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात्।

मीमांसा ३-२-४

महर्षि जैमिनि ने यह सूत्र "निवेशनः सङ्गमनो वसूनामित्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इत्यादि वाक्यों की अर्थ योजना को समन्वित करने के लिये ग्रथित किया है। यहाँ समस्या यह है कि गार्हपत्य एक अग्नि है उसका उपस्थान इन्द्र देवताक ऋक् से कैसे हो सकता है। अग्नि के उपस्थान के लिये तो अग्निदेवतापरक ऋचा ही होनी चाहिये यहाँ मीमांसाभाष्यकार के व्याख्यानवचन इस प्रकार हैं -

"नचैन्द्रेण मन्त्रेणाग्नेराभिधानं शक्यते कर्तुम्। अतो गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति न गार्हपत्यमुपस्थानमेतत् इति जायते शङ्का गार्हपत्य उपस्थानार्थो भवेदिति' तादृशश्च शब्दो नास्ति तृतीयान्तः सप्तम्यन्तो वा तस्माद् विचारः कथमुपपन्नं भवतीति? किं तावत् प्राप्तम्? सामर्थ्यादिन्द्रोपस्थानम्। अशक्यत्वाच्च गार्हपत्योपस्थानस्य"।

इस विकट समस्या का समाधान करने के लिये सूत्रकार कहते हैं -

वचनात् त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्। मीमांसा ३-२-३।

सूत्र का भाव इस प्रकार है— "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठति" इस श्रुति वचन के कारण ही से यहाँ गार्हपत्याग्नि का उपस्थान सिद्ध है क्योंकि गार्हपत्य में पठित द्वितीया विभक्ति इस के प्राधान्य को प्रकट करती है । तो यहाँ फिर वही समस्या आखडी होती है कि इन्द्रदेवताक ऋचा से अग्नि का उपस्थान कैसे संगत हो सकेगा ? इसका उत्तर सूत्रकार इस प्रकार देते हैं कि- "अयथार्थ-मैन्द्री स्यात्„ अर्थात् ऐन्द्र्या पद मुख्यार्थ का वाचक न होकर गौण अर्थ का अभिधायक मानलिया जायेगा । यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि इन्द्र शब्द अग्नि का वाचक कैसे हो सकता है ? क्योंकि शब्दार्थ सम्बन्ध दो तरह का होता है एक औत्पत्तिक अर्थात् स्वाभाविक लोक प्रसिद्ध जो लोक से जाना जाता है । दुसरा कृत्रीम जैसे व्याकरण शास्त्र में वृद्धि, घ, टि, आदि इन संज्ञा शब्दों के संज्ञा संज्ञी निर्देशकसूत्रों के द्वारा वृद्धि का अर्थ आ ए ऐ औ ज्ञात हो जाता है । परन्तु इन्द्र का अर्थ न तो औत्पत्तिक अग्नि है तथा न ही इन्द्र का अर्थ यहाँ अग्नि लिया जायेगा ऐसा कोई शास्त्र-वचन यहाँ पठित हैं । अतः सम्बन्ध बोधक शास्त्र के अभाव में इन्द्र का अर्थ अग्नि कदापि नहीं किया जा सकता । शब्दार्थ विषयक इस बलवती मान्यता का उत्पादन करने के लिये ही महर्षि जैमिनि ने प्रथम लिखित सूत्र का प्रणयन कियाजिसे वैदिक वाङ्मय के अध्येताओं को सदैव स्मरण रखना चाहिये सूत्र में आचार्य ने स्पष्ट घोषणा की है कि

"गुणादपि- अभिधानं स्यात्"

अर्थात् गुण से भी कथन हो जता है " सम्बन्धस्य-अशास्त्रहेतुत्वात्"शब्द और अर्थ सम्बन्ध प्रकाशन में शास्त्र को हेतु नही माना जा सकता । अतः गुणों के कारण इन्द्र का अर्थ अग्नि भी कहीं प्रकरणानुसन्वन्ध से हो सकता है । यहाँ पर शबर स्वामी के निम्न भाष्यवचन पढ़ने योग्य हैं—

'भवति हि गुणादप्यभिधानम् । यथा सिंहो देवदत्तः । अग्नि र्माणवक इति । एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्र शब्दो भविष्यति । अस्ति तु चास्येन्द्र सादृश्य यथैवेन्द्रो यज्ञसाधनमेवं गार्हपत्य-मपीति । अथवा- इन्दतेरैश्वर्य कर्मण इन्द्रो भवति, भवति च गार्हपत्यस्यापि स्वस्मिन् कार्ये ईश्वरत्वम् । तस्माद् इन्द्र शब्देन यःप्रत्याय्यतेऽर्थः स प्रतीतः सादृश्याद् गार्हपत्यं प्रत्याययिष्यति, ऐश्वर्याद्वा प्रत्याययिष्यतीति वा न दोषः" ।

विज्ञ पाठकों से मैं प्रार्थना करूंगा कि वे जैमिनि के प्रस्तुत सूत्र तथा शावर वचनों पर विचार करें। क्या मीमांसा का प्रस्तुत सूत्र तथा वैदिक परम्परा से अनतिदूर मीमांसा भाष्यकार शवर स्वामी के वचनों से सर्वथा स्पष्ट आभास नहीं मिलता कि वैदिक लोगों की शब्दों के अर्थ के विषय में क्या धारणा थी। जब तक वैदिक वाङ्मय के अध्येता इस आर्ष परम्परा को हृदयङ्गम नहीं करेंगे तब तक वैदिक वचनों की संगति लगाने में वे कभी सफलता-रूप श्रीलता के मधुर फलों का आस्वादन नहीं कर सकेंगे। लेख विस्तार भय के कारण यहाँ मीमांसा के सूत्रों पर विस्तार पूर्वक विचार करना सम्भव नहीं, तथापि-

गुणवादस्तु मी १-२-२०
रूपात् मी १-२-११
अभिधानेऽर्थवादः। मी १-२-४६

इत्यादि कुछ सूत्र तो वैदिक साहित्य के छात्रों को अच्छी प्रकार बुद्धिस्थ कर लेने चाहिये। ये सब सूत्र हमें सूचित करते हैं कि वैदिक वाङ्मय में शब्द कहीं तो मुख्याभिधा से अपना अर्थ प्रकाशित कर देते हैं तो कहीं पर अपने मुख्य अर्थ को छोड़कर गुणतया अपने अर्थ को प्रकाशित करते हैं। इन्हीं सूत्रों की व्याख्या में शबर स्वामी ने एक मैत्रायणी संहिता का वचन देकर उसकी अर्थ मीमांसा, मीमांसा सूत्रों के आलोक में की है। श्रुतिवचन इस प्रकार है—

स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्. मै. स, ४ ५-१

यहाँ मन को स्तेन तथा वाक् को अनृतवादिनी कहा है, जो सामान्य दृष्टि से सर्वथा असंगत प्रतीत होता है यहाँ भाष्यकार "रूपात् प्रायात्" सूत्र के प्रकाश में उपरि लिखित श्रुतिवाक्य की अर्थ योजना इस प्रकार समन्वित करते हैं—

"गुणवादस्तु रूपात्। यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपेण एवं च मनः इति गौणः शब्दः"।

इसी प्रकार "अनृतवादिनी वाक्', का अभिप्राय यह नहीं है कि वाणी सर्वथा अनृतवादिनी ही है अपितु यह कथन भी मात्र "प्रायात्" इस गुणवाद से प्रवृत्त हुआ है अर्थात लोक में सामान्यजन प्रायः वाणी से अनृत बोलते रहते हैं इसलिये

वाक् को अनृतवादिनी अभिहीत किया है। अतः भाषाशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य यास्क के वचनों में इतना और जोड़कर यह आघोष किया जा सकता है कि—

शब्दार्थनिश्चये न संस्कारमाद्रियेत वैयाकरणानां नापि लोकं न शास्त्रं विषयवत्यों हि वृत्तयो भवन्ति ।

अर्थात शब्दार्थ का अन्तिम निर्णय करने में न व्याकरणैकबुद्धि होना चाहिये न लोकानुगामी न अन्य कोशादि शास्त्रों के अधीन अपितु इन सब की सहायता से प्रयोगस्थल में स्थित शब्द के सही अर्थ की मार्गणा करने का उद्योग सूक्ष्म बुद्धि से करना चाहिये क्योंकि शब्दों की चाल अथवा अर्थशक्ति बडी अद्भुत है । यही कारण था कि यास्क ने सब शास्त्रों की अवहेलना करके स्पष्ट घोषणा की कि- "अर्थनित्यः" अर्थात अर्थ ही प्रधान है ।

मीमांसा सूत्रों की उपरिकृत विश्लेषणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्यक्षतया अनुष्ठीयमान श्रौतयज्ञों में प्रयुज्यमान वानस्पतिक सोम किसी विशेष अर्थ का प्रतीक भूत है, तथा उसी प्रतीयमान अर्थ का ही प्राधान्य है । तथा जहाँ पर स्वाभाविक अर्थ संगत नहीं होता वहाँ रूप से, प्रायिकता आदि गुणवाद से अर्थ योजना करनी चाहिये । हम यहाँ फिर वैदिक वाङ्मय के पाठकों को बलपूर्वक कहना चाहेंगे कि जो पाठक इन पूर्वोक्त मीमां-सादिशास्त्रों द्वारा प्रबोधित शब्दार्थ बोधक सूत्रों को बुद्धिस्थ नहीं रखेगा वह वैदिक वाङ्मय के विशाल बीहड़ में निश्चित रूप से भटक जायेगा और वह वैदिक वाङ्मय में आये 'वृत्रो वै सोम आसीत्' "रेतो वै सोमः" तथा "पलाशो वै सोम आदि ब्राह्मण वाक्यों का कुछ भी तात्पर्य हृदयङ्गम नहीं कर पायेगा ।

इस लम्बी विवेचना के पश्चात अब हम वैदिक वाङ्मय में अतिशयेन वर्णित सोम के स्वरूप की परीक्षा करना चाहते हैं। वैदिक वाङ्मय को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक मूलसंहिताएं अथवा मन्त्रभाग तथा दूसरे उसके व्याख्यात ग्रन्थ जिनमें ब्राह्मणग्रन्थ प्रमुख हैं ।

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेद व्याख्यान शैली—

कुछ आधुनिक विद्वान ब्राह्मण ग्रन्थों की मन्त्रव्याख्यानात्मकता को स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य दर्शपूर्णमसादि यज्ञयागों के विधिविधानों को प्रस्तुत कराना ही है। आपाततः ब्राह्मणग्रन्थों का सामान्य अध्ययन इस धारणा की घोषणा भी करता है क्योंकि प्राय ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रव्याख्या की अपेक्षा यज्ञयागों के कर्मकाण्ड का ही वर्चस्व दृष्टि गोचर होता है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्मय के जर्मन-देशज: श्रमशील अध्येता मोरिक विन्टरनित्ज [Mourice winter nitgo) ने ब्राह्मण शब्द की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—

The word brahman (Neut) means firsta single "Expression or utteranece of a learned Priest of a doctor of the science of sacrifice upon any point of the ritual" used eloctively the word means secondly a collection of such Heraness and direussion of the priest upon the science of sacrifice. A history of Indian literature.

Vol I page. 187

यद्यपि विन्टरनित्ज महोदयने अपनी धारणा के अनुरूप ब्राह्मण वाङ्मय के स्वरूप को परिभाषित किया, परन्तु स्वयं उनको भी अपनी इस व्याख्या पर पूर्ण सन्तोष नहीं था शायद इसका कारण भारत के सर्व प्राचीन आचार्यों की सम्मति थी जो उनके विपरीत पडती थी। इसलिये उन्हें पादटिप्पणी में स्पस्ट लिखना पड़ा कि the dirivation of the word is doubtful it can be derived either from brahman is the sence of "sacred speech prayer, sacred know ledgo. अर्थात हमारा पूर्व प्रदर्शित ब्राह्मण शब्द का ब्याख्यान संदिग्ध है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्म शब्द से भी व्युत्पादित किया जा सकता है जिसका अर्थ पवित्र बाणी, प्रार्थना यो पवित्र ज्ञान है। ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप के विषय में केवल वैदेशिक विद्वानो की ही ऐसी भ्रान्त धारणा हो ऐसी बात नहीं अपितु जिन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करने का महानश्रम करने का साहस नहीं किया उन सब

विद्वानों की धारणा लगभग ऐसी ही अधिगत होती है। यहाँ हम एक ऐसे विद्वान का मत प्रस्तुत करना चाहते हैं जो महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तो पर पूर्ण आस्थावान होते हुए भी स्वतन्त्र सम्मति प्रकट करने का साहस करते हैं तथा जिन्होंने शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मणों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करने का बहुश्रमीकार्य करने का साहस किया है। वे ऐतरेय ब्राह्मण के प्राक्कथन पूरी सच्चाई के साथ इस प्रकार करते हैं —

"बचपन में मैंने सुन रखा था कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की व्याख्या Commentories हैं (क्योंकि महर्षि दयानन्द ने ऐसाही माना है) व्याख्या का स्वरूप भी मेंरे मस्तिष्क में वही था जो विद्यार्थी के मस्तिष्क में हुआ करता है। ...परन्तु जब मैंने ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण और यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण पढ़ना आरम्भ किया तो मुझको बडा आश्चर्य हुआ। यह कैसी व्याख्याएँ हैं। जिनसे मन्त्रों का अर्थ समझने में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। वस्तुतः व्याख्यापद के अर्थों में भेद है। आद्योपान्त पढने पर और उनपर विचार के पश्चात् मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद व्याख्या नहीं अपितु यज्ञ सम्बन्धी व्याख्या है। अर्थात् आप यदि चाहें कि इनके द्वारा वेद मन्त्रों का अर्थज्ञान हो सके ... तो आपकी इच्छापूरी नहीं हो सकेगी"।

इस लम्बे उद्धरण को प्रस्तुत करने का मेरा उद्देश्य यही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ने के पश्चात् आप कि विद्वत्प्रज्ञा सामान्य रूप से कहाँ तक पहुँच पाती है। यह ठीकसे अवगत हो जाये परन्तु जिन मनीषियों का ब्राह्मण प्रवचन कर्त्ताओं की व्याख्यान शैली से सिधा अथवा पारम्परिक परिचय था उनकी सम्मति इन आधुनिक अध्येताओं के सर्वथा प्रतिलोम ही उपलब्ध होती है। यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप के विषय में कुछ प्रख्यात आचार्यों की धारणा को प्रस्तुत करना ऊचित होगा जिसमें हमें ज्ञात हो सके कि वैदिक आचार्यों की ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में कैसी सम्मति थी। सब से प्रथम हम ऋषि परम्परा में प्रतिष्ठागत आचार्य यास्क को

लेते हैं। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने निरुक्त के आरम्भ में ही निरु-क्तादि वेदव्याख्यान ग्रन्थों की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुये लिखा है —

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्यऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्वग्रहणायें म ग्रन्थं समाम्नासिषु: वेदं च वेदाङ्गानि च। निरुक्त १-६-२०

इस नैरुक्त सन्दर्भ से स्पष्ट विदित होता है कि अति प्राचीन काल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने "उपदेशेन" गुरुशिष्य परम्परा के द्वारा ही वेदमन्त्रों को तथा उनके अर्थों को हृतयंगम किया। उस समय किसी व्याख्यान ग्रन्थ की कोई आवश्यकता न थी, परन्तु किन्हीं कारणों से मन्त्रार्थ का ज्ञान कराना इस परम्परा से सम्भव नहीं रहा तब ऋषियों ने मन्त्रार्थ ज्ञान के लिये इस निरुक्त शास्त्र की तथा वेद-शाखा एवं ब्राह्मणग्रन्थ और व्याकरणादि वेदाङ्गों की रचना की। प्रस्तुत सन्दर्भ में वेद शब्द से वेदों की व्याख्यान भूत शाखाएं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को लेना ही युक्त प्रतीत होता है। क्यों कि मन्त्र गान तो स्वयं व्याकरणीय है अतः वेद शब्द से मन्त्रभाग का ग्रहण सम्भव नही। निरुक्त शास्त्र के प्रसिद्ध टिकाकार आचार्य दुर्ग ने भी वेद शब्द से शाखा ग्रन्थों का ग्रहण किया है। उनके टीका वचन इस प्रकार हैं —

वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद्दुरध्येयमनेक शाखाभेदेन समाम्नासिषुः।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस नैरुक्त वचन के व्याख्यान प्रसंग में "समाम्नासिषु" इस क्रिया पद का कर्म केवल निरुक्त को माना है तथा "येन" पद का अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ कर दिया कि "जिससे वेद वेदाङ्गों का ज्ञान हो सके" स्वामीजी ने यह अर्थ किस आधार पर किया यह अनुसन्धानीय है। मेरे विचार में वेदशब्द से शाखा तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण ही युक्तियुक्त है वेद शब्द से शाखा तथा ब्राह्मण का ग्रहण प्राचीन वाङ्मय मे बहुत्र दृष्टिगोचर होता है। जब हम प्रस्तुत सन्दर्भ में

वेद शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण कर लेते हैं तो ब्राह्मण ग्रन्थों की वेद व्याख्यानात्मकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। आगे चलकर निरुक्तकार ने एकाधिक स्थानों पर मन्त्र व्यख्यानात्मकता प्रकट की है।

मध्यकाल के वैदिक विद्वान यद्यपि याज्ञिक कर्मकाण्ड से सर्वथा व्यामुग्ध थे तथापि वे वैदिक मान्यताओं से किसी न किसी तरह जुडे हुए थे। अतः उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों को असन्दिग्धशब्दों से वेद व्याख्यान ग्रन्थ घोषित किया। यहाँ विस्तार भय के कारण हम तो मूर्धन्य वैदिक आचार्यों की सम्मत्ति ही प्रकट करेंगे—

(१) तैत्तिरीय संहिता के प्रख्यात भाष्यकार भट्ट भास्कर यद्यपि आर्ष परम्परा के आचार्य नहीं थे, न ही उन्हें भारतीय प्रज्ञा ने ऋषि पदपर कदापि प्रतिष्ठित किया तथापि वे ऋषि परम्परा के काफी निकट थे, अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप के विषय में उनकी सम्मति वहुमूल्य है। उन्होंने अपने तै. स. भाष्य के आरम्भ में ही ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप विश्लेषण करते हुये अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकाशित की है

ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्रणां च व्याख्यानो ग्रन्थः

तै. स. १-५

अर्थात् नाना यज्ञभागों में विहित कर्मकाण्ड तथा उस कर्म में विनियुक्त मन्त्रों का व्याख्यान प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाता है। यथार्थ में देखा जाये तो भट्ट भास्कर का यह ब्राह्मण परिभाषावचन, ब्राह्मणग्रन्थों के उपर पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। यतः ब्राह्मण ग्रन्थों में मुख्य रूप से दो ही विषय प्राप्त होते हैं —एक-यज्ञीय कर्मकाण्ड का विधान तथा उसके वास्तव का प्रकाशन दूसरा- उस कर्मकाण्ड में विनियुक्त मन्त्रों का व्याख्यान। वास्तविकता यह है कि मन्त्र के भावों को प्रत्यक्ष कराने के लिये ही बाह्य कर्मकाण्ड की परिकल्पना पूर्व महर्षियों ने की थी। अतः कर्मकाण्ड की व्याख्या जो ब्राह्मण ग्रन्थों में की है वह भी मन्त्र व्याख्यान ही है। यही कारण है कि कर्मकाण्ड की छोटी से छोटी क्रिया का अतीव महत्वपूर्ण स्थान है, उसमें थोडा भी उलटफेर या न्यूनाधिक्य

कर देना कर्मकाण्डीय शास्त्रों में अनर्थकारी माना जाता है। यही कारण है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया का भी बडा अद्भुत वर्णन उपलब्ध होता है[16]। जो विद्वान् इस ब्राह्मणविज्ञान को हृदयङ्गम नहीं कर पाये, वे प्रायः इन कर्मकाण्डीय क्रियाओं की अवहेलना करते दिखाई देते हैं। यह ठीक है कि क्रियाकाण्ड मन्त्रार्थ का व्याख्यान भाग होने से न तो मन्त्र के समान ईश्वर प्रोक्त है और न उनकी मन्त्र के समान प्रधानता है। परन्तु ऋषि प्रज्ञा द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड की हर क्रिया मन्त्रार्थ के भावों को प्रकाशित करती है इसलिए जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक क्रियानुष्ठान में प्रमाद करना अनुचित है।

ब्राह्मण ग्रन्थो की इस रहस्यमयी व्याख्यान परम्परा से लगता है आचार्य सायण भी कुछ न कुछ परिचित था, क्योंकि कर्मकाण्डैक बुद्धि होने पर भी ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप के विषय में उसकी सम्मति भी इसी पूर्वोक्त धारणा के अनुलोम उपलब्ध होती है। तद् यथा वे यजुर्वेद भाष्य भूमिका के एक प्रसङ्ग में लिखते हैं —

"यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः। तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानात्मकत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः"।

आधुनिक युग में भी जिन महर्षियों ने वैदिकवाङ्मय का अनुशीलन करने में अपेक्षित श्रम किया है उनकी सम्मति भी ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय में प्राग्वर्त्ती आचार्यों के अनुलोम अधिगत होती है। आधुनिक युग में वैदिक वाङ्मय पर गम्भीर अनुशीलन कर्त्ताओं में महर्षि दयानन्द अग्रगण्य हैं, उन्होंने स्पष्ट रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों की व्याख्यानात्मकता घोषित की है। यथा वे लिखते हैं -

'एत एवैश्वरोक्ता वेदास्तद् व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्थाः"

ऋग्वेदादि भष्यभूमिका

भारतवर्षीय दो और मनीषियों ने ब्राह्मणवाङ्मय का गम्भीर अनुशीलन किया है तथा ब्राह्मणग्रन्थों में शेखरायमाण माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण का भाष्य करने का बहुपरिश्रमापेक्षी उद्योग किया था उनमें प्रथम आर्य समाज के गौरव महाप्रज्ञ स्वामी

समर्पणानन्द जी हैं जिन्होंने अपनी रहस्य प्रकाशिनी प्रतिभा के द्वारा शतपथ ब्राह्मण के पौने तीन काण्ड का अद्भुत भाष्य करके शतपथ के अध्येताओं के लिये मार्गप्रशस्त किया है। दूसरे महाविद्वान शतपथ ब्राह्मण के विज्ञानभाष्यनामक भाष्यग्रन्थ के लेखक पं मोतीलाल शर्मा हैं जिन्हें वैदिक वाङ्मय के महान् प्रतिभाशाली पण्डित विद्या श्रीभूषित श्री मधुसूदन ओझा से शतपथ के अध्ययन का सौभाग्य प्रप्त हुआ। यह भी आश्चर्य की बात है कि इस विद्वानों की सम्मति भी ब्राह्मणग्रन्थों के स्वरूप के विषय में प्राचीन आचार्यों के अनुलोम ही प्रवृत्त हुई है[16]।

मैं ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुशीलन विगत १०। १२बर्षों से कर रहा हूँ। इस अन्तराय में प्रायः समस्त ब्राह्मण वाङ्मय का पारायण पूर्ण सावधान मन से एकाधिवार किया है और शतपथ ब्राह्मण (जिसके लिये आचार्य सायण ने निःसंकोच मन से यह आघोष किया था — "परं तत्वं प्रकाशितम्" शतपथ भाष्य के प्रारम्भ में। जो सभी ब्राह्मणों में महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय है उसपर गम्भीर चिन्तन किया है। अपने अबतकके गम्भीर स्वाध्याय के फलस्वरूप मैं बिना किसी संकोच के यह लिखरहाहूँ कि ब्राह्मण-ग्रन्थों को मात्र कर्मकाण्ड के ग्रन्थ घोषित करने वाली भारतीय और अभारतीय विद्वान महानुभावों ने ब्राह्मण वाङ्मय का अनुशीलन करने में सम्भवतः अपेक्षित श्रम नहीं किया 'क्योंकि मैंने ब्राह्मणग्रन्थों के हर पारायण से यह अनुभव किया कि ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य यज्ञीयकर्मकाण्ड का विवरण देना नहीं है अपितु वेदमन्त्रों के भावों का प्रकाशन करना है। मन्त्रों के भावों के प्रत्यक्ष करादेने के लिये ही ऋषि प्रज्ञा ने इन वाह्य प्रतीकों का आश्रय लिया था यह स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि जैसा कि कुछ मध्यकालीन मीमांसकों ने प्रसिद्ध किया था कि विधिपूर्वक अनुष्ठित कर्मकाण्ड ही स्वर्ग का प्रापक है तो फिर ब्राह्मणकारों को स्थान-स्थान पर मन्त्र व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता थी? और कर्मकाण्डीय याज्ञिक क्रियाओं की जो उपपत्तियां ब्राह्मणकारों ने प्रस्तुत की है उनका क्या प्रयोजन है? इन दोनों प्रश्नों का कर्मकाण्डीय विद्वानों के पास कोई समुचित उत्तर नहीं। विधि पूर्वक कर्मानुष्ठान से स्वर्ग प्राप्ति होगी इस प्रकार की मिथ्या एवं ब्राह्मणकर्त्ताओं के उद्देश्य के विरूद्ध धारणा का प्रचार सम्भवतः मध्यकालीन दक्षिणा-

लोलुप पण्डितों ने किया होगा अथवा यह भी हो सकता है कि मध्यकाल में जब वेदादिशास्त्रों की रक्षा का एक महान संकट उपस्थित हुआ तो तदानीन्तन पण्डितों को शास्त्ररक्षा के लिये यह स्वर्गप्राप्ति का प्रलोभन ज्यादा प्रभावी प्रतीत हुआ हो। परन्तु सच्चाई जो ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से सहसा उभरकर आती है वह यही है कि केवल विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान ब्राह्मणकर्त्ताओं के लक्ष्य को कदापि पूरा नही करेगा। इसके लिये आवश्यक है क्रियाओं की प्रयोजनीयता का सही बोध होना, जिससे मन्त्रार्थ प्रत्यक्ष होता है। इस प्रसंग में शतपथ का एकवचन जो एकादश काण्ड में उपलब्ध होता है, अत्यन्त उपयोगी है, जो इस प्रकार है—

"यद् यद्ध वा अयं छन्दसः स्वाध्यायमधीते। तेन तेन हैवास्य यज्ञ क्रतुनेष्टं भवति" शत ११.५.७.३.।

अर्थात् जो-जो यह अध्येता जिस जिस मन्त्र का स्वाध्याय करता है उस उस मन्त्र के स्वध्याय से ही उसका वह यज्ञ अनुष्ठित हो जाता है, जिस यज्ञ वा क्रतु में उस मन्त्र का विनियोग किया जाता है।

इस ब्राह्मण वचन से सर्वथा स्पष्ट है कि क्रिया काण्ड से बस्तुत विनियुक्त मन्त्र का भाव प्रकाशन किया जाता है। विना क्रियाकाण्ड के स्वतन्त्ररूप से भी मन्त्रार्थ को जाना जा सकता है। तथा अभीष्ट की प्राप्ति की जा सकती है। इसी प्रकार द्वादशाप्ति तथा षट्क्लृप्तिओं के प्रसंग में भी शतपथ कार लिखते हैं—

"यदि वाचयति यदि जुहोति समान एव बन्धुः"। शत० ५-२-१-३

इत्यादि ब्राह्मणवचनों के प्रकाश में विना किसी सन्देह के यह स्वीकार किया जा सकता है कि यज्ञियकर्मकाण्ड मात्र एक ऋषि प्रणीत मन्त्रार्थ के प्रकाशन का प्रभविष्णु तरीका है जैसे रामादि के चरित्र को प्रभावी ढङ्ग से प्रकट करने का सुरुचिपूर्ण उपाय दृश्य नाटकों की रचना पद्धति है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड में प्रयुज्यमान हर हाविष द्रव्य तथा पात्रादि किन्हीं विशेष भावों के द्योतक प्रतीक हैं जो मन्त्रार्थ के भावों को लेकर ऐसे शब्दों से चुने हैं जो द्विविध या त्रिविध भावों को प्रकाशित करने में सक्षम हैं। यथा दर्शेष्टि में

दुह्यमान गौ को उदाहरण के रूप में लीजिये। गौ शब्द जहाँ सास्नादिमती पशु विशेष का वाचक है वहाँ गौ शब्द निघण्टु में वाक् नाम में तथा पृथिवी नामों में भी प्राप्त होता है। ब्राह्मणकार ने वेदवाणी की प्रतीक के रूप गो पशु को उपस्थित करके "सा विश्वायुः" आदि यजुर्वेद के प्रथमाध्याय का चतुर्थमन्त्र व्याख्यात किया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप के विषय में इस लम्बी विश्लेषणा को प्रस्तुत करने का लक्ष्य यही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में सोमयाग का विस्तृत वर्णन है और उसमें सोम किन्हीं विशेष अर्थों का प्रतीक है, और जबतक हम ब्राह्मणकार की व्याख्यानशैली से अवगत न हों तब तक ब्राह्मणकार द्वारा शताधिक स्थानों पर विवृत सोम का स्वरूप समझना असम्भव ही है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सोम—

ब्राह्मणग्रन्थों में सोम का वर्णन अतिशयेन होता है। सोमयाग का विस्तृत वर्णन भी प्रायः सभी ब्राह्मणों में अधिगत होता है। पूर्व मीमांसा के नियमानुसार प्रत्यक्षतया क्रियमाण कर्मकाण्ड में मुख्यार्थ का ग्रहण किया जाना है। मुख्य और गौण की मीमांसा शबरस्वामीने मीमांसाभाष्य में इस प्रकार की है—

"कः पुनर्मुख्यः को वा गौण इति? उच्यते- यः शब्दादेवावगम्यते स प्रथमोऽर्थः मुख्यः। मुखमिव भवतीति मुख्य इत्युच्यते। यस्तु खलु प्रतीदर्थात् केनचित् सम्बन्धेन गम्यते स पश्चाद्भावाज्जघनमिव भवतीति जघन्य। गुण सम्बन्धाच्च गौण इति"।

मीमांसा भाष्य ३-२-१

शाबर वचनों का भाव यह है कि वाक्य में शब्द के उच्चारण के बाद जो प्रथम अर्थ अध्येता की बुद्धि में उद्भूत होता है, वही शब्द का मुख्य अर्थ है— जैसे मैत्रायणी संहिता का एक वचन उन्होंने प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है "बर्हिर्देवसदनं दामी" (१-१-२) यहाँ बर्हि शब्द के प्रथमतया आस्तरणोपयोगी दर्भों की प्रतीति होती है अतः बर्हि का मुख्यार्थ दर्भ है और क्रियमाण

कर्म काण्ड में उसी मुख्यार्थ का ग्रहण होने से दर्भ ही आस्तरण के लिये ग्रहण किये जाते हैं, उस मुख्य अर्थ से प्रतीत होने वाला अर्थ जघन्य अर्थात अमुख्य कहलाता है। यह अमुख्य अर्थ किसी सम्बन्ध विशेष से अवगत होता है। जब यह अर्थ गुण सम्बन्ध से प्रतीत होता है तो उसे गौण अर्थ कहा जा सकता है। मीमांसा के उपर कथित नियमानुसार प्रत्यक्षतया अनुष्ठीयमान कर्मकाण्ड में मुख्यार्थ का ही ग्रहण किया जाता है वस्तुतः गौणार्थ का उपादान कर्मकाण्ड में सम्भव भी नहीं। अतः सोमाभिषव के प्रकरण में सोम शब्द का जो लोक प्रसिद्ध अर्थलता विशेष है उसी का ग्रहण किया जायेगा।

सोम शब्द का मुख्यार्थ तथा उसके गुण —

प्रत्यक्षतया क्रियमाण कर्मकाण्ड में सोम शब्द का मुख्य अर्थ सोमनामक कोई वनस्पति विशेष है। जिसका ग्रहण सोमयाग में किया जाता है। दुर्भाग्य से आज यह सोम वनस्पति हमें उपलब्ध नहीं। लगता है प्राचीनकाल में भी इसकी उपलब्धि असान नहीं थी। इसलिए ब्राह्मणग्रन्थों में इसके अभाव मेंकई अन्य वैकल्पिक वनस्पतियों के प्रयोग का विधान उपलब्ध होता है। सोम का वर्णन वनस्पति विज्ञान के प्रतिपादक चरक सुश्रुतादि ग्रन्थों में अतीव वैचित्र्यपूर्ण उपलब्ध होता है। कुछ विद्वानों ने सोम को मादक (Introxicating) माना है, यथा मैक्डौनल ने अपनी वैदिक रीडर के पृष्ठ १५३ पर लिखा है — "The Soma Juice Which is introxicating" अर्थात् सोम रस नशा उत्पन्न करने वाला है परन्तु चरकादि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में सोम के मादक होने के कुछ भी संकेत प्राप्त नहीं होते। शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से भी इन सोम के मादकवादियों की धारणा का पोषण नही हो पाता। शतपथ के प्रवक्ता ने सोम के अभाव में गुण समानता के आधार पर जिन प्रतिनिधि वनस्पतियों का उल्लेख किया है उनमें से कोई भी मादक नहीं है। शतपथ के सोम विकल्प विधायक वचन इस प्रकार है — (१) द्वयानि वै फाल्गुनानि लोहितपुष्पाणि अरुणपुष्पाणि च। स यान्यरुण पुष्पाणि तान्यभिषुणुयात्। स वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तस्मादरुणपुष्पाणि अभिषुणुयात्।
४-५-६-२

(२) यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयुः श्येनहृतमभिषुणुयात् यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत् तस्या आहरन्त्या सोमस्यांशुरपतत् तच्छ्‌येनहृतमभवत्। तस्माच्छ्‌येनहृतमभिषुणुयात्- १४-५-६-२
(३) यदि श्येनहृतं न विन्देयुः आदारानभिषुणुयात् यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य यो रसो व्यप्रुष्यत् तत् आदारा समभवन्। तस्मादादारानभिषुणुयात्। १४ ५-६-४
(४) यद्यादारान् न विन्देयुः, अरुणदुर्वा अभिषुणुयात्, एष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणदुर्वाः। तस्मादरुणदुर्वा अभिषुणुयात्।
४-५-६-५
(५) यद्यरुणदुर्वा न विन्देयुः, अपि यागेन काँश्च हरितान् कुशानभिषुणुयात्। शत. ४-५-६-६

इस प्रकार शतपथकार ने सोम के पाँच विकल्पों का निर्देश किया है। इन पाँचो में कोई भी नशीला नहीं मिलता। यहाँ यह विशेष अवधेय है कि विकल्प जो ब्राह्मण कारने प्रतिपादित किये हैं उनका सोम के साथ गुण सदृश है, जिसका संकेत ब्राह्मण कार ने "एष वै सोमस्यन्यङ्ग" इत्यादि वचनो से किया है। गुण साम्य से ही प्रतिनिधि का ग्रहण किया जाता है इस सिद्धान्त को जैमिनि ने इस सूत्र के द्वारा दृढता पूर्वक निरूपित किया है"—

'न तद्वत् प्रयोजनैक त्वात्" मीमांसा ३. ६. ३६.

अर्थात प्रतिनिधि असमान विहित नहीं होता अपितु मुख्य द्रव्य के समान ही होता है क्योकि दोनों एक ही प्रयोजन की पूर्ति करते हैं।

सुधी पाठकों को मैं यहाँ फिर याद दिलाना चाहता हूँ कि मीमांसाकार का "प्रयोजनैकत्वात्" हेतु वचन डिण्डिमघोष के साथ प्रमाणित करता है कि श्रौतयागों में प्रयुज्यमान व्रीहि आदि पदार्थ किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये ग्रहण किये जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र का शाबर भाष्य भी यहाँ सर्वथा पठनीय है अतः विज्ञपाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है—

"नैतदस्ति असमानविधानः प्रतिनिधिरिति। तद्वत् स्यात् यद्वत् श्रुतः। न प्रकृतिविकारभावः। कुतः ? व्रीहित्वं हि

व्रीहिधर्माणां व्रीहिस्थानौ निमित्तं न च व्रीहित्वस्य स्थाने निवा-रत्वं भवतीति श्रूयते। तस्मान्न प्रकृतिविकार भावः। कथं तर्हि नीवारेषु धर्मा भवन्तीति? उच्यते- या व्रीहित्वेन परिच्छिन्ना व्रीहि व्यक्तयः नीवारेषु ताः सन्ति। तत्सामर्थ्येन ते धर्माः क्रियन्ते। तासां च व्यक्तीनामन्यासां च व्रीहिगतानां तुल्यएव विधिः। का तुल्यता? उभयेऽपि व्रीहित्वलक्षिता इति। तस्मात् समानविधान इति।

प्रस्तुत शबरभाष्यवचनों का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि जिन गुण विशेषों के कारण धान्यविशेषों की व्रीहिनाम् रखी गई, वे गुण कुछ न कुछ नीवारों मेंभी विद्यमान है, अतः जिन गुणों का प्रतिनिधित्व व्रीहि करते हैं उन्हीं का प्रतिनिध्य नीवार भी कर सकते हैं। कात्यायन ने भी प्रातिनिधि चयन के विषय में उसी प्रकार की व्यवस्था दी है। उनका सूत्र इस प्रकार है—

"नियते सामान्यतः प्रतिनिधिः" का. श्रो. सू. १. ४. २.

इस विश्लेषणा से स्पष्ट विज्ञात होता है कि अरुण।फाल्गुन आदि जो ब्राह्मण कार ने सोम के प्रतिनिधि निर्दिष्ट किये हैं उनके गुण सोम के तुल्य हैं। जब इन प्रतिनिधि द्रव्यों में मादकता नहीं तो फिर अनुपलब्ध सोम में मादकता (introxication) की कल्पना करना औचित्यपूर्ण नहीं लगता।

जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि सोम का वर्णन वैदिक-वाङ्मय में अतिशयेन उपलब्ध होता है, इस वर्णन में हम सोम के त्रिविधगुणों का दर्शन करते हैं। अतः सोम के स्वरूप के अवगमन को असम्भव नहीं माना जा सकता। हम प्रथम वनस्पति रूप में सोम के गुणों की विवेचना करना चाहते हैं जिसके रस हवियाँ इन्द्रादि देवों के लिये सर्वोत्तम वर्णित की गई है। यही सोम वस्तुतः दिव्यसोम का प्रतीक है जिसकी महिमा का विचित्र बखान वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इस प्रतीयमान दिव्य सोम के याथार्थस्वरूप का परिज्ञान करने के लिये आवश्यक है कि हम प्रतीकात्मक प्रत्यक्ष सोम के वास्तविक स्वरूप को समझें, इसलिये प्रथम हम अभिषूयमाण सोम क्या था ईसकी विस्तृत विश्लेषणा प्रस्तुत करना चाहते हैं।

प्रधान मल्ल न्याय से हम मुख्यरूप से शतपथ ब्राह्मण को लेते हैं अन्य ब्राह्मणों में भी लगभग शतपथ के अनुलोम ही सोम का वर्णन प्राप्त होता है।

सोम का रंग—

शतपथ में सोम का रंग बभ्रु या अरुण ही अधिकतया वर्णित किया गया है, तद्यथा कुछ शतपथ वचन देखिये—

"सोमो वै बभ्रु" शतपथ ३-१-४-५।
"बभ्रुरिव हि सोमो राजा" शत. १-६-३-३

सोम के बभ्रुत्व प्रतिपादक वचन और भी अन्य ब्राह्मण वाङ्मय में खोजे जा सकते हैं। वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि बभ्रु शब्द मानों सोम का ही विशेषण है। यही कारण है कि ऋग्वेद के नवम मण्डल में बार २ सोम का ही विशेषण बभ्रु शब्द उपलब्ध होता है। बभ्रु शब्द का अर्थ सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में प्रायः सर्वत्र "बभ्रु वर्णः सोमः"[१८] किया है। वामन शिवराम आप्टे ने अपने संस्कृत ईंगलिश कोश में बभ्रु शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है— बभ्रु-Deep brown, Twany, Reddishbrown" हमारे विचार में बभ्रु वर्ण संयमशील यौवन से उद्भव तेज वर्ण (जो एक सौम्य लालिमा लिये हुये होता है) का द्योतक है। उसकी उपमा निर्धूम अग्निज्वाला के साथ दी जा सकती है जैसा कालिदास के इस वचन विन्यास से प्रकट होता है—

"ज्वाला बभ्रुशिरोरुहः" रघुवंश १५. १६

सोम का अरुण वर्ण भी शतपथ से प्रतीत होता है। अत एव सोम के प्रतिनिधियों के निर्देशन में अरुणदुर्वा तथा अरुणपुष्प फाल्गुन का विधान शतपथकार ने किया है। ऋग्वेद के मन्त्रों में भी एकाधिक बार सोम का विशेषण अरुणशब्द दृष्टिगोचर होता है, तद्यथा कुछ संकेत यहाँ प्रस्तुत हैं—

बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे । सोमाय गाथामर्चत:
९. ११. ४. ।

आयोनिमरुणो रुहद् गामदिन्द्र वृषा सुतः । ध्रुवे सदसि सीदति ९. ४०. २. ।

यं देवा चक्रिरे पीतये मदं स्वादिष्ठं द्रप्समरुणं मयोभुवम् ।
९. ७९. ४.

इन सब मन्त्रों के व्याख्यान में आचार्य सायण ने अरुण शब्द का अर्थ वर्ण विशेष ही किया है । अरुणवर्ण उगते हुये सूर्य की लालीमा का सादृश्य को प्रकट करता है । यही कारण है कि "शिवराज विजय" के विद्वान लेखक अम्बिकादत्तव्यास ने अपने उपन्यास का प्रारम्भ करते हुए लिखा— "अरुण एष प्रकाशः पूर्वस्यां दिशि भगवतो मरीचिमालिनः" वैदिक वाङ्मय में सोम को अनेकत्र हरि भी कहा है यथा ऋग्वेद के निम्नमन्त्रों में देखिये—

"हरिर्वनेषु सीदति" ९. ७. ६.
तं सानावधिजामयो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः" ९. २६. ५.
हरे सृजान आशिरम् ९. ६४. १४.
हरिं रमृत्यो निर्णिजानः परिव्यत ९. ६९. ५.

इन मन्त्रों के व्याख्यान में आचार्य सायण ने हरि का अर्थ "हरितवर्णः सोम:" हि प्रायः किया है । निरुक्तकार यास्क ने भी निरुक्त में हरि का अर्थ एकत्र इस प्रकार निरूपित किया है—

"हरिः सोमः हरित वर्णः" नि. ४. १९.

हमारे विचार में सोम को हरि कहने का तात्पर्य यह है कि जब कोई पौधा उर्वरा भूमि में सम्यक्तया जलादि द्वारा आसेचित किया जाता है तो उनके हरे रंग के पत्रों में जो चमक होती है वही उसकी हरितिमा है । इसलिये चरक में जो नाम सोम के लिखे हैं । उन में कनकाभ तथा रजताभ भी हैं इसलिये सोम को कहीं ऊर्जस्वी[19] कहा तो कहीं पर भ्राट्[20] ।

सोम का मद—

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टरूप से उल्लेख मिलता है कि—

"मदाय वाव सोमो मदाय सुरा" १२. ७. ३. १२.

सोम को सुरा के समान मादक मानने के लिये यह शतपथ वचन सहसा उत्कण्ठित कर देता है। सोम का सम्बन्ध मद के साथ ऋग्वेद के मन्त्रों में भी बहुत्र दृष्टि गोचर होता है। तद् यथा निम्नलिखित मन्त्रों में आये विशेषण स्पष्ट प्रकट करते हैं—

६।१५।८ मदिन्तमः	६।२४।४ नृमादनः
६।२५।६ मदिन्तमः	६।३२।१ मदच्युत्
६।३८।५ मद्यः	६।५०।३ मधुमन्तमः
६।६६।२ नृमादनः	६।८५।५ मदिरासः
६।६७।३ मदच्युत्	६।१०७।३ देवमादनः
६।१०७।११ अनुमाद्यः ।	

इन सभी मन्त्रों के भाष्य में आचार्य सायण ने सर्वत्र सोम को मादक मानकर व्याख्यान कर दिया, जिससे सोम के मादक होने का बलवान सन्देह वैदिक वाङ्मय के अध्येताओं के मस्तिष्क में उभर आता है. और यही कारण है कि इन विशेषणों की सूक्ष्म परीक्षा न करके कितने ही वैदिक विद्वानों ने सोम को एक नशीले रसवाला पौधा घोषित करने का भी साहस किया। परन्तु हम जब ब्राह्मण वाङ्मय तथा वैदिक मन्त्रों का सूक्ष्म अनुशीलन करते हैं तो हमें इन पूर्वोक्त विद्वानों की धारणा को छोडने के लिये सर्वथा बाधित हो जाना पडता है। सबसे प्रथम तो शतपथकार ने सोम और सुरा को सर्वथा पृथक २ माना है जैसे की शतपथकार लिखते हैं—"नाना हि सोमश्च सुराश्च" १२. ७. २. १४. । इसी प्रकार सोम और सुरा के गुण धर्म भी शतपथ कार ने सर्वथा पृथक २ परिगणित किये हैं। ब्राह्मण वचन पर विचार की जिये—"प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत् सोमश्च सुरा च तत् सत्य' श्रीर-

ज्योतिः सोमः। अनृतं पाप्मा तमः सुरा "शतपथ ५. २. १०. यहाँ सोम को जहाँ सत्य श्री तथा ज्योति स्वरूप निरुपित किया है, वहाँ सुरा को इस के विपरीत अनृत पाप्मा तथा तमः स्वरूप प्रतिपादित किया है।

सोम को ब्राह्मणों में तथा वैदिक मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ आहुति के रूप में वर्णित किया है जबकि सुरा को मल तथा मूत्र तुल्य निरूपित किया है[२१]।

"अन्नं वा एतद् ब्राह्मणस्य यत् सोमः" शत. १२. ७. २. २.
"अन्नं वै सोमः" शतपथ ३. ९. १. ७.।

इत्यादि वचनों में सोम को ब्राह्मण कार ने स्पष्ट रूप में अन्न बताया है। जबकि सुरा के विषय में ब्राह्मणकार स्पष्ट रूप में लिखता है कि—

"अशिव इव वा एष भक्षः। यत् सुरा ब्राह्मणस्य' शत. १२. ८. १. ५.

इस प्रसंग में ऋग्वेद के नवम मण्डल में पठित सोम के कुछ विशेषण भी मननीय है, जो सोम को एक पवित्र करने वाला तथा शुचिद्रव्य प्रकट करते हैं तद् यथा कुछ विशेषण विज्ञपाठकों के मननार्थ प्रस्तुत हैं—

(१) शुचिजातः ९.९.३.। (२) शुचिः ९. २४. ६.।
(३) चेतनः ९. ६४. १०.। (४) शुचिः ९. ७४. १०.।
(५) शुचिः ९. ७४. ४.। (६) शुचिः ९. ८८. ८.।
(७) पुनानः ९. ९६. १५.। (८) शुचिबन्धु ९. ९७. ७.।
(९) सत्यशुष्म ९. ९७. ४६। (१०) शिवसखा १०. २५. ९.।

इन विशेषणों के अतिरिक्त सोम को शताधिक स्थानों पर पवमान कहा है जिसका अर्थ हमारे विचार में पवित्र करने वाला ही युक्ति युक्त है। याज्ञिक प्रक्रिया से व्यामुग्ध सायण ने प्रायः सर्वत्र पवमान का पूयमान अर्थ करके अपनी असूक्ष्म दृष्टि का ही परिचय दिया है। अतः निःसंकोच मन से कहा जा सकता है कि सोम एक सात्विक गुणोपेत पौधा है जिसका रस पवित्र बल को देने वाला है। यही कारण है कि सोमरस को intoxicating मानने वाला मैक्डोनल भी सोम के इन विशेषणों की अवहेलना

नहीं कर सका और "वैदिक रीडर" के पृष्ठ १५४ पर यह लिखने के लिये विवश हो गया—

That in Soma vigorates Indra for the fight with vritra is mentioned in innumerable passage.

अर्थात् सोम इन्द्र को वृत्र से लड़ने के लिये शक्ति देता है, यह बात वेद में अपरिगणित स्थलों पर कही गई है। इसके साथ ही सुरा के लिये स्पष्टरुप से ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में उल्लेख मिलता है कि —

"युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्" ऋ० ८. २. १२.

अर्थात् शराब पीकर लोग दुर्मद होकर आपस में लड़ते हैं। यहाँ पर यह विशेष अवधेय है कि सोम के लिये पूरे वैदिक वाङ्मय में कहीं भी 'दुर्मद' विशेषण उपलब्ध नहीं होता। परन्तु— "मदाय वाव सोम" तथा 'नृमादन' आदि विशेषण जो सोम के लिये वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं उनका क्या तात्पर्य है यह विचिकित्सा अध्येताओं के मन में अवश्य उत्पन्न होती है। अतः इस प्रसङ्ग में हम कुछ और गहराई से विचार करना चाहते हैं—

मद और पाणिनि =

आचार्य पाणिनि के धातुपाठ में मद धातु के अर्थ इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—

१) मद तृप्तियोगे — चुरादि गण

२) मदी हर्षे - दिवादि गण

३) मदी हर्षग्लेपनयोः— भ्वादिगण

इन पाणिनीय सूत्रोंपर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि मद धातु का सर्वतः प्रसिद्ध अर्थ तृप्तियोग तथा हर्ष है। अतः नृमादन, मदिन्तम आदि शब्दों का अर्थ नशापरक करना धात्वर्थनिर्देश का प्रतिलोम है। "तथा मदाय वाव सोमः, मदाय

सुरा" इस शतपथ वचन का अर्थ निर्धारण व [illegible] के पूर्वापर का सम्यग् अनुशीलन करके करना युक्त होगा। विज्ञ पाठकों के विचारार्थ यहाँ ब्राह्मण के कुछ प्रसंग प्रस्तुत कर रहा हूँ जो समालोच्य मद शब्द के वास्तविक अभिप्राय के अवगमन में हमारी सहायता करेंगे: अनुशिलनीय वचन शतपथ ब्राह्मण के सौत्रामणि याग का है। जैसा कि पूर्व विवेचित किया जा चुका है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्दिष्ट सब क्रियाकाण्ड तथा यज्ञिय पदार्थ किन्हीं विशेष भावों के प्रकाशक हैं। अतः यह निश्चित है कि यहाँ सौत्रामणि याग में भी सोम और सुरा किसी विशेष भाव के प्रतीक वस्तु हैं। इस प्रसंग में सुरा के प्रतोयमान अर्थ को प्रकाशित करने के लिये ब्राह्मणकार ने एक अर्थवादात्मक आख्यान इस प्रकार उपस्थित किया है – "एक वार विश्वरूप त्वाष्ट्र को इन्द्र ने मार दिया। तब हतपुत्र त्वष्टा ने इन्द्र के लिये अभिचरणीय याग किया और इन्द्र रहित सोम का आहरण कर लिया। इस पर इन्द्र ने उसके यज्ञ का विनाश करके बलपूर्वक सोम पान कर लिया वह सोम उसके समस्त शरीर में व्याप्त हो गया। तव उस इन्द्र का वीर्य प्रत्येक अंग से बह निकला। उसके कटि प्रोथ भाग से भाम का निःसरण हुआ जो सुरा हो गया। इस आख्यान का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह तो गवेषणीय है, परन्तु इस आख्यान से यह सर्वथा विस्पष्ट है कि सुरा में भी जो भाम है वह भी सोम के कारण है। जैसा कि आख्यान में स्पष्ट लिखा है कि इस भाम की उत्पत्ति कटिप्रोथों से हुई. इस का भाव यही लिया जा सकता है कि जैसे देह का शिर भाग ज्ञान का केन्द्र तथा बाहु बलशाली भाग है इसी प्रकार कटि भाग शिरो भाग से दूर होने के कारण विवेक-हीनगति का द्योतक है। भाम का अर्थ सामान्येन क्रोध होता है, क्रोध में भी विवेक विहीनता प्रवल हो जाती है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुरा का मद विवेक हीनता का प्रतीक है। तथा सोम का मद विवेक युक्त दर्प या अभिमान का प्रतीक है। इस लिये ब्राह्मण कार ने दोनों के लिये कथन किया कि—

"मदाय वाव सोमः, मदाय सुराः"

इसी प्रसङ्ग में शतपथकार ने अपने भाव को और भी स्पष्ट करते हुये लिखा कि—

क्षत्रं वै, पयः, विट् सुरा" १२-७-६-८

यहाँ ब्राह्मणकार ने सुरा को विट् कहकर यह ज्ञापित किया है कि यदि पय=दूध को क्षत्र माना जाये तो सुरा को वैश्य माना जायेगा। अतः सुरा को विवेकशून्य अभिमान का प्रतीक मानना सर्वथा संगत प्रतीत होता है। विवेकशून्य अभिमान वस्तुत सुरा के समान महान् घातक होता है इस प्रसङ्ग में विनियुक्त याजुष मन्त्र भी सुरा के विषय में कहता है —

"मा मा हिंसीः स्वां योनिमाविशन्ति" यजु० १६.७

यहाँ ब्राह्मणकार के वचन इस प्रकार हैं —

यथा योन्ये वैनां व्यावर्तयति। आत्मनो अहिंसायै"
शत० २.७-३-१४

याजुष् मन्त्र तथा उसके ब्राह्मण से विशद है कि सुरा निश्चित रूप से हिंसक है तथा उससे बचने का निर्देश ब्राह्मणकार करते हैं। इस प्रकरण में पठित कुछ और ब्राह्मणवाक्य भी विचारणीय हैं, जिनसे सुरा तथा सोम के पार्थक्य के अवबोध में सुकरता होगी। ब्राह्मण-वचन इस प्रकार है —

(१) क्षत्रं वै पयोग्रहाः, विट् सुराग्रहाः १२. ७. ३. १५
(२) सोमो वै पयोग्रहाः, अन्नं सुराग्रहाः १२. ७ ३. १७
(३) प्राणो वै पयोग्रहाः शरीरं सुराग्रहाः १२. ७, ३. १६
(४) पशवो वै पयोग्रहाः, अन्नं सुराग्रहाः १२. ७. ३. १८
(५) ग्राम्या वै पशवो पयोग्रहाः, आरण्या सुराग्रहाः १२. ७. ३. १९
(६) सुरायामेव तद् रौद्रं दधाति। तस्मात् सुरां पीत्वा रौद्रमना भवन्ति शत० १२. ७ ३. २०
(७) इति सुराग्रहान्। पाप्मनैवैनं व्यावर्तयति १२. ३. ३. २२

इन वचनों के आलोक में निर्भ्रमतया कहा जा सकता है कि सुरा एक निम्न श्रेणी का द्रव्य है जो मिथ्या रौद्र का जनक है तथा पाप का हेतु है। अतः उसे मिथ्याभिमान या बल का प्रतीक मानकर सौत्रामणी याग में उपस्थित किया जाता है। यही कारण है कि वैदिक परम्पराओं के प्रत्यक्षद्रष्टा एवं ज्ञाता महर्षि यास्क ने जहाँ

सप्तमहापातकों की गणना की है उनमें सुरापान को भी परिगणित किया है।[22] स्मृति ग्रन्थों में भी सुरापान की अतिघोर निन्दा बहुत्र उपलब्ध होता है।[23] उसके विपरीत सोम को सर्वत्र पवित्र तथा सोम पान को एक अभिनन्दि दैवकर्म स्वीकार किया गया है। तद्यथा ऋग्वेदीय नवम मण्डल के कुछ मन्त्रो पर दृष्टिपात कीजिये—

[१] स्वादीष्ठया मादिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः ६.१.१.
[२] पवस्व सहस्रजित्। ६.५५.४.।
[३] त्वं सोम. पवमानों विश्वानि दुरितानि तर ६.५६.३.।
(४) सोमः पुनानो अर्षति। ६.१४.१.।
अर्थं पुनानः पावकः सोम इति सायणः।
(५) शुचि पावको अद्भूतः। ६.२५.६.।
(६) यः पोता स पुनातु नः। ६.६७.२२.।

अतएव वैदिक वाङ्मय के श्रमशील अध्येता पण्डित सत्यव्रतसामश्रमी महोदय ने अपने "ऐतरेय आलोचन" नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ७६ पर सोम के विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है—

"ब्राह्मणानां बलकरो भंत्र्य. सोमो निर्णीतः!"

भारतीय आयुर्वैदिक ग्रन्थों में चरक तथा सुश्रुत विद्वानों में सर्वथा मान्य हैं। उनके सिद्धान्त आज भी वैद्यमण्डली में श्रद्धेय हैं। उन ग्रन्थों में प्रतिपादित वानस्पत्य गुणधर्म आज भी पूर्ण रूपेण सत्य प्रमाणित हो रहे हैं। सुश्रुत के चिकित्सा स्थान के अध्याय में सोम के २४ नामों का उल्लेख मिलता है, जो सोम के विविध गुणों एवं जातिभेद के द्योतक हैं, वे नाम इस प्रकार हैं—

अंशुमान्, मुञ्जवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताज, कनकप्रभ, प्रतानवान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, गरुडाहृत्, गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत शाक्वर, अग्निष्टोम, दैवत, सोम और उडुपति।

इन नामों के अध्ययन से स्पष्ट है कि सोमका ऐसा कोई नाम नहीं है जिससे उसमें नशीलापन प्रतीत हो। निश्चित रूप से सोम

चन्द्रमा के समान आल्हाद होगा इसलिये उसका नाम भी चन्द्रमा रखागया है। सोम और चन्दमा का साम्य ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान स्थना पर उपलब्ध होता है[24], जो इस रहस्य का प्रकाशक है कि सोम के गुण चन्द्रमा के समान हैं। सुश्रुत के अनुसार सोम चन्द्र-कलाओं का अनुवर्ती है। यथा सुश्रुत वचन देखिये—

'सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते च पतन्ति च' ।।

अर्थात् सोम के पत्ते पन्द्रह होते हैं जो शुक्ल पक्ष में एक एक करके निकलते हैं तथा कृष्ण पक्ष में एक-एक करके गिरते जाते हैं, और अमावास्या के सोम निष्पत्र हो जाता है। इस वर्णन से अभिव्यञ्जित होता है कि सोम तथा चन्द्रमा का परस्पर प्रगाढ सम्बन्ध है। यद्यपि सुश्रुतकार ने यह भी लिखा है कि यह सोम कहाँ कहाँ मिलता है[26] परन्तु दुर्भाग्य से यह अद्भुत वैदिक पौधा कहीं भी नहीं मिलता। पं० चन्द्रमणि[27] जी ने अपने निरुक्त भाष्य में लिखा है, डा० रोक्सवरो ने हिमालय प्रदेश में इस सोम का पता लगाया था तथा उसने बताया कि यह सोम बिल्कुल नशीला नहीं था। उसका स्वाद शिकञ्जवी जैसा बड़ा स्वादु होता है।

सोम तथा मत्सर—

ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम का बिशेषण मत्सर बहुत उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में निम्न मन्त्र तथा उनका सायण व्याख्यान देखिये—

(१) एते धावन्तीन्दवः सोमा इन्द्राय घृष्वयः। मत्सरसः स्वर्विदः
सायण व्याख्यान- मत्सरसः= मादयितारः। ९. २१. १।

(२) इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ९. ६३. १८
सायण व्याख्यान— मत्सरम् = मदकरम्।

(३) वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ९. ६५. १०
सायण व्याख्यान— मत्सरः=मदकरः।

(४) सोमोहृदे पवते चारु मत्सरः ९. ८६. २१
सायण व्याख्यान— मत्सर= मदकरः।

इस प्रकार कई और भी मन्त्रों में मत्सर शब्द सोमका विशेषण खोजा जा सकता है जहाँ सर्वत्र सायण ने मत्सर का अर्थ मदकर करके सोमस्वरूप अनुसन्धित्सु विद्वानों के दिल में एक बलवती आशङ्का पैदा कर दी है हमारे विचार में यदि सायण का अभिप्राय मदकर शब्द से नशा उत्पन्न करने वाला है, तो वह सर्वथा वैदिक वाङ्मय के विरुद्ध है। पता नहीं सायण जैसे अध्ययन शील विद्वान का ध्यान निरुक्त व्याख्यान की तरफ कैसे नहीं गया जहाँ निरुक्तकार ने मत्सर शब्द का व्याख्यान करते हुये स्पस्ट लिखा "गोभिः श्रृणीत मत्सरम्" (१. ४७. ४) इस ऋग्वेदीय मन्त्र के व्याख्यान प्रसंग में यह लिखा था— 'मत्सरः सोमः मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः"। निरुक्त २. १। भला जब यास्क जैसा प्रमाणभूत आचार्य मत्सर शब्द तृप्त्यर्थक मदि धातु से निष्पन्न मानता है तो फिर तदनुचर सायण के विरुद्धव्याख्यान को प्रमाद-कृत ही मानना पड़ेगा। इसलिये सोम को मदकर नहीं अपितु तृप्तिकर ही मानना समुचित है।

इस सब विश्लेषणा का सार यह है कि जिस सोम नामक ओषधि विशेष का ग्रहण सोम याग में किया जाता है वह बल ओज तथा हर्षातिरेक को बढ़ाने वाली अद्भुत ओषधि थी। जो वैदिक सोम का प्रातिनिध्य करने में सर्वगुणोपेत थी।

वैदिक सोम का असली स्वरूप—

मैनें इसी लेख में सर्वत्र व्याकरण निरुक्त तथा सीमांसा के सबल प्रमाणों के आलम्बन से यह स्थापित किया था कि वैदिक शब्दों के अर्थ अतीव व्यापक हैं। एक ही शब्द के अन्दर विविध अर्थों के प्रकाशन करने की विचित्र शक्ति वैदिक शब्दों में विद्यमान है

यहाँ पाठकों के मन में यह आक्रोश उठ खड़ा होता है कि जब एक शब्द की अर्थ शक्तियाँ नाना हैं, तो वाक्यार्थ की योजना कैसे करें? उदाहरण के रूप में जब सोम के अर्थसार निकालने वाला अथवा जिसका सार निकालते हैं इत्यादि बहुत से हैं तो हम यह निश्चय कैसे करें कि इस मन्त्र में सोम का अर्थ यह होगा तथा अमुक प्रसंग में वह होगा। शब्दार्थ कि इस डाँवाडोल स्थिति में शब्दार्थ के महान प्रवक्ता आचार्य यास्क का समाधान यह है कि

प्रकरण के अनुसार ही शब्द का निर्वचन किया जायेगा। इसलिये वे स्पष्ट घोषणा करते हैं—',नैकपदानि निब्रूयात्" नि:२-१. उस नैरुक्त वचन पर आचार्य दुर्ग ने जो टीका व्याख्यान किया है वह पठनीय है—

"नैक पदानि निब्रूयात्"— प्रकरणोपपदरहितानि सन्ति केवलान्येव, परेणाभि द्रोहबुद्ध्या पृच्छ्यमानानि न निब्रूयात् न -निर्वक्तव्यानीति। किं कारणम्! तेषां प्रकरणादुपपदाद्वार्थः शक्यते-ऽधारयितुम्। योऽसौ प्रकरणानभिज्ञोऽन्यथैव निब्रूयात् ततश्च प्रत्यवायेन योगादपहारस्य स्यात्। तद्यथा "जहा" इत्येतदेकं पदं प्रकरणोपपदरहितं न विज्ञायते किं "हन्ते' उत 'ओ हाक् त्यागे" इत्यस्माद् धातोः स्यादिति। तत् पुनरेतत् "मा न एकस्मिन् नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु। वधीर्मा शूर भूरिषु"(ऋ० ८. ४५. ३४.) इत्येतस्यां पूर्वस्यामृचि मावधीः" इति पदमेतस्माद् गम्यते हन्तेः स्यादिति। किं कारणम् ? विज्ञातप्रकरणोपपदस्य हि समञ्जं ह्य पाकरणं न्याय्यमित्येवमनवगतसंस्काराणामेकपदानां प्रकरणादर्थावधारण-मुपपदाद्वाशक्यते कर्तुम्। अतः इदमुक्तम् "नैकपदानि निब्रूयात्" इति।

इस दुर्ग टीका वचनों से सर्वथा स्पष्ट है कि बिना पूर्वापर विचारणा के शब्द का सही अर्थ निरुक्त नहीं किया जा सकता। वस्तुस्थिति तो यह है कि लौकिकवाङ्मय में भी हम शब्द का सही अर्थ पूर्वापरावलोकन के पश्चात् ही ग्रहण कर सकते हैं, पुनः वैदिक भषा का तो कहना हि क्या, जिसको नैरुक्त आचार्यों ने तथा महा वैयाकरण शाकटायनादियों ने सर्वथा यौगिक समा-घोषित किया है[२८]। यही कारण है कि वैदिक शब्दों के प्रामाणिक विवेचक निरुक्तकार यास्क ने पुनः २ इस बात को दोहराया है कि वैदिक शब्दों का निर्वचन बडी सावधानी से पूर्वापर सन्दर्भों को विचार करके करना चाहिये। इसलिये निरुक्त शास्त्र के अन्त में पुनः यह उल्लेख पाते हैं – "अयं मन्त्रार्थ चिन्ताऽभ्युहोऽभ्युढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो नतु पृथकत्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। निरुक्त १३-१२। अर्थात् मन्त्रार्थ का निश्चय बडी ऊहा से करना चाहिये ऊहा से किये हुये अर्थ की परीक्षा पारम्परिक

आर्षश्रुति से करना भी आवश्यक है और तर्क से भी। कदापि पूर्वापर चिन्तन के बिना मन्त्रों का व्याख्यान नहीं करना चाहिये। प्रकरण के अनुरोध से शब्दों का निर्वचन करना युक्त होता है। इसी तथ्य का प्रकाशन निरुक्तश्लोकवार्तिककार ने बडे सुन्दर शब्दों में इस प्रकार किया है —

'वाक्यार्थं सामतं पूर्वं बुद्ध्या निश्चिता तत्त्वतः।
पदानि तद्वशेनैव व्याख्येयान्याह भाष्य कृत्" ॥ २. १. ३८८।

इस शब्दार्थ निश्चय विषयक विश्लेषणा से विस्पष्ट हो गया है कि यदि सोम शब्द के वास्तविक अर्थों की मार्गणा करना चाहते हैं, तो हमें उसके वर्ण्यक्षेत्र में पठित विशेषणों का अनुशीलन गम्भीरता से करना पडेगा. यदि सोम के आस-पास में पठित विशेषण ओषधिपरक है तो हमें सोम शब्द का निर्वचन "यमभिषुण्वन्ति स सोमः" करना पडेगा और यदि विशेषण ओषधि परक नहीं है तो दूसरे कारकों में निर्वचन करके अर्थ योजना करनी पडेगी। इस प्रकार हम सोम शब्द के वास्तविक अर्थ का बोध करने में साफल्य प्राप्तकर सकेंगे ।

सोम याग में सोम का प्रतीकार्थ—

उपलब्ध प्राय सभी ब्राह्मणों में सोमयाग का वर्णन उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण में सोमयाग का उपाख्यान विस्तरेण, उनके तीसरे और चौथे काण्ड में किया गया है। ऐतरेय तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण में भी सोमयाग का व्याख्यान विस्तारपूर्वक किया गया है सभी ब्राह्मण के सोमयाग की लक्ष्यगामिता में अन्तर नहीं है। हमारे इस लेख का लक्ष्य यह नही है कि हम सोमयाग की सर्वाङ्गीण विवेचना प्रस्तुत करें। हमारा उद्देश्य केवल सोम के वास्तविक स्वरूप का अन्वेषण करना है। तथा यह खोजना है कि ब्राह्मणकारों ने सोमयाग के बाह्य क्रियाकाण्ड से प्रतीयमान परोक्ष सोम का वास्तविक स्वरूप कैसा प्रकट किया है। महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा उपदिष्ट शतपथ ब्राह्मण समस्त ब्राह्मणों में शेखरायमाण है। अतः प्रधानमल्लन्याय से मुख्यरूप से शतपथवचनों के आलोक में ही सोमयाग के वास्तव की संक्षिप्त समालोचना प्रस्तुत करना चाहते हैं। सोमयाग के याज्ञिक

आचार्यों ने चारभागों में विभक्त किया है, जो इस प्रकार हैं— "अग्नि ष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र । अग्निष्टोम ही सोमयाग का प्रधान प्रकृति याग है। ज्योतिष्टोम भी इस अग्निष्टोम को कहा जाता है। अग्निष्टोम का प्रमुख अर्थ अग्नि का स्तवन । ब्राह्मण वाङ्मय तथा वैदिक संहिताओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है। कि अग्नि शब्द जहाँ भौतिक अग्नि का वाचक है, वहाँ यह ज्ञान तथा ज्ञानवान का भी वाचक है। जैसे भौतिक अग्नि स्वयं प्रकाशरूप है तथैव वह प्रकाश देने वाला भी है। ठीक इस प्रकार अग्नि का अर्थ ज्ञान = मन्त्र तथा उस ज्ञान को जिसने प्राप्त किया है और जो दूसरों को इसे प्रदान करता है वह भी अग्नि कहलाता है हम अपनी इस मान्यता को कुछ ब्राह्मण वचनों के द्वारा पुष्ट कर देना उपयुक्त समझते हैं।

अग्नि का अर्थ ज्ञान या त्रयी विद्या—"योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वेति । एषा हैव सा विद्या यदग्नि "शत० १०.४.३.६ यहाँ स्पष्ट रूप से अग्नि को अमृतत्व की आपादिका विद्या कहा है। वस्तुतः अग्नि अमृतत्व की प्रापक है इसलिये द्वितीय काण्ड के अग्न्याधान प्रकरण में शतपथकार ने स्पष्ट लिखा है कि देव अग्नि को अपने अन्तरात्मा में धारण करके अमृत हुये। तद्यथा ब्राह्मण वचन प्रस्तुत है-"अथैनं (अग्निं) देवाः अन्तरात्मान्नादधत त इमममृतमन्तरात्मन्नाधायमृता भूत्वाऽस्तर्या भूत्वा स्तर्यान् सपत्नान् मर्त्यानभ्यभवन्"। शत० २-२-२-१४.

अतः असन्दिग्धतया कहा जा सकता है कि अग्नि वह ज्ञान प्रकाश है जिसको अन्तरात्मा में धारण करके व्यक्ति अमृतत्व का लाभ करता है। याजुषी श्रुति का भी निर्देश यही है—

"विद्ययाऽमृतमश्नुते" यजु० ४०. ॥

यही अग्नि का ज्ञानालोक ही वस्तुत हमारे राक्षसी भावों तथा पापों का हन्ता व दग्धा हो सकता है तद्यथा ब्राह्मण वचनों पर दृष्टिपात कीजिये —

(१) अग्निर्वै पाप्मनोऽपहन्ता 'शत० २.३.३. १३

(२) अग्नि वै रक्षसामपहन्ता । कौ० ८.४

(३) अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता । शत० १.२. १.६
(४ तं पर्यग्निं करोति । अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना गृह्णाति ।

नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृशानीति । अग्निर्हि रक्षासामपहन्ता । तस्मात् पर्यग्निं करोति । शत० १.२.२.१.३

यह पापहन्तृत्व तथा रक्षोघ्नत्व का गुण जैसा ज्ञानाग्नि में सुसंगत होता है, वैसा भौतिक अग्नि में सर्वथा संगत नहीं होता।

इसी प्रकार जो इसी ज्ञानाग्नि को धारण करलेता है वह भी अग्नि स्वरूप हो जाने से अग्नि कहलाता है, तद् यथा निम्न ब्राह्मण वचनों से स्पष्ट विदित होता है —

अग्निर्वै दीक्षितः । का० स० २३.६
अग्निर् ऋषिः मैत्रायणी स० १.६.१.
अग्निर्वै ब्राह्मणः । का० ६.६
योषा वा आपः, वृषाग्निः । शत० १.१.१.१८

इस प्रकार के अनेकअन्य भी वचन वैदिक वाङ्मय में खोजे जा सकते हैं, जिनके आधार पर यह कहना असन्दिग्ध होगा कि अग्नि का अर्थ वैदिक वाङ्मय में यथार्थ ज्ञान तथा उस ज्ञान से युक्त चेतन तत्व ग्रहण करना सर्वथा युक्त है। विवेच्य अग्निष्टोम में इस ज्ञान या ज्ञानवान् का स्तवन किया गया है। ब्राह्मण कार ने सबसे प्रथम वेदि निर्माण का विधान किया है। वेदि की प्रयोजनीयता का प्रकाशन ब्राह्मणकार ने इस प्रकार किया है—

अतो वै देवा दिवमुपोदक्रामन् । देवान् वा एष उपोत्क्रामति यो दीक्षते : स सदेवे देवयजने यजते । शत ३ । १ । १ । ११ ।

इस ब्राह्मण वचन से बिल्कुल स्पष्ट है कि इसी सोमयागीय वेदि के द्वारा ही देवों ने द्युलोक अर्थात ज्ञानलोक को प्राप्त किया । दिव् का अर्थ हमने 'ज्ञानलोक' किया है अपने इस अर्थ को हम कुछ प्रमाणों से स्पष्ट करना चाहते हैं, जिससे पाठक निर्भ्रम होकर सोमयाग के रहस्य को हृदयङ्गम कर सकें ।

सामान्य रूप से द्युलोक का अभिप्राय सूर्यलोक समझा जाता है परन्तु वैदिक वाङ्मय में दिव् शब्द बड़ा व्यापक अर्थ धारण करता है। जैसे इस ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रकाशरूप तथा प्रकाश का हेतु है इसी प्रकार हमारे शिर में वर्त्तमान मस्तिष्क ज्ञानरूप तथा ज्ञान का हेतु है, यही कारण है कि जैमिनि ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से शिर को दिव् का रूप कहा गया है यथा ब्राह्मण वचन देखिये—

"एतद्वै प्रत्यक्षं दिवोरूपं यन् मूर्धा"। जै. ब्रा. २.४०४ जैसे शरीर सन्दर्भ में शीर दिव है उसी प्रकार ज्ञान के प्रकरण में वह स्थान दिव् है जहाँ ज्ञान का प्रकाश सदैव विद्यमान रहता है। इसलिये ताण्ड्य ब्राह्मण में दिव् का वास्तविक अर्थ प्रकाशन करते हुये, लिखा है—

अद्युत दिव वा अद इति तद् दिवो दिवत्वम्। ता. २०.१४.२

दिव् का एक अर्थ स्वर्ग भी है। ब्राह्मणकार के मत में स्वर्ग वह स्थान है जहाँ ज्ञान कराया जाता है। तद् यथा शतपथकार स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं—

"यत्र वै संज्ञपयन्ति स स्वर्गः"। शत. १३।' अर्थात् जहाँ

पशु सदृश अबोध व्यक्तियों को ज्ञान कराया जाता है। वह स्थान स्वर्ग है। कुछ विद्वान् जिन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन में अपेक्षित श्रम नहीं किया वे प्रस्तुत ब्राह्मण वचन की अर्थापना इस प्रकार करते हैं कि जहाँ पशु को यज्ञार्थ मारते हैं वह स्थान स्वर्ग है। यह अर्थ सर्वथा ब्राह्मण भावों के प्रतिकूल है। मैंने अपने "अग्निषोमीय पशुयागे हिंसा विवेचनम्" नामक शोधलेख में इस अशुद्ध अर्थ का प्रत्याख्यान विविध ब्राह्मण वचन प्रमाणों के आधार पर करके इसके पूर्वोक्त सही अर्थ की पुष्टि अनेक सबल प्रमाणों से की है। यह लेख मैंने "ऑल इण्डिया ओरिएन्टल कान्फ्रेंस" जयपुर) में पढ़ा था। जहाँ विद्वानों ने मेरे द्वारा प्रस्तुत सुदृढ प्रमाणों की भूरी-भूरी प्रशंसा की थी। अब इस लेख का हिन्दी अनुवाद मेरे अन्य शोधलेखों के साथ "शोध-निबन्ध' नामक लघुग्रन्थ में छपचुका है। जिसे गुरुकुल महाविद्यालय झज्जर (हरयाणा) से प्राप्त किया जा सकता है।

अत: सोम याग के इस प्रसंग में दिव् का अर्थ ज्ञानालोक से परिपूर्ण विद्यास्थान लेना अतीव सुसंगत है।

अस्तु प्रकृत का अनुसरण करते हैं। इस वेदि के द्वारा देवजन द्युलोक को प्राप्त करते हैं। यहाँ देव शब्द से किसी अलौकिक देहधारी को ब्राह्मणकार ने देव नहीं माना है, जैसा कुछ विद्वान कल्पित करते हैं। ब्राह्मण कारके मत में देव वस्तुतः वे हैं जिन्होंने द्युलोक में ज्ञानप्रकाश को प्राप्त किया है तथा अब उस ज्ञानानुसारी अपने कर्मों से मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये श्रमरत है। अतएव वेदि निर्माण के अवसर पर विनियुक्त "यत्र देवा अजुषन्त विश्वे (यजु. ३-१) इस यजुः के व्याख्यान प्रसंग में स्पष्ट लिख दिया कि-

"तदस्य विश्वैश्च देवैर्जुष्टं भवति। ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना यदहास्य ते ऽत्तीभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवांसस्तदहास्य तैर्जुष्टं भवति"। शत. ३-१-१-११।

यद्यपि यह शतपथ सन्दर्भ सर्वथा सुबोध है तथापि देवताओं के विषय में बहुत्र अलौकिकता के प्रतिपादक आचार्य सायण का एक भाष्यवचन उपस्थित करदेना उचित समझता हूँ। जिससे पाठकगण अनुमान कर सकेंगे कि सायण भी यहाँ देवों का अलौकिकत्व प्रतिपादन न कर सके और श्रुताध्ययनवान् ब्राह्मण को ही उन्हें देव स्वीकार करना पड़ा। उनका व्याख्यान वचन इस प्रकार है—

"तदस्य विश्वैरिति- श्रुताध्ययनवद्भिर्ब्राह्मणैः।

अत: निर्भ्रमतया स्वीकार किया जा सकता है कि वेदिस्थान वास्तव में वह स्थान है जहाँ बैठकर नानाविध ज्ञानविज्ञान का लाभ किया जाता है। यह देवयजन कहाँ पर बसाया जाये इस विषय में शतपथ के आदि उपदेष्टा महर्षि याज्ञवल्क्य का उत्तर इस प्रकार है—

"सर्वा वा इयं पृथिवी देवी देवयजनं यत्र वा क्व च यजुषैव प्रगृह्य याजयेत्। शतपथ ३।१।१।४।

देवों के स्वरूप के विषय में भ्रमित विद्वानों को इस शतपथ वचन पर भी विचार करना चाहिये कि जिस देवयजन से देव दिव् को प्राप्त करते हैं वह इसी पृथ्वी पर है। इस प्रसंग में यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक होगा कि महर्षि याज्ञवल्क्य का यह भी मत है कि मात्र स्थान विशेष कदापि दिव् की प्राप्ति नहीं करा सकता अपितु "यजुषैव प्रगृह्य" अर्थात् जहाँ पर वैदिक विज्ञान का प्रकाश विद्वान लोग करते हैं वही स्थान देवयजन है। इसलिये वास्तविकता यह है कि जहाँ विद्वान हैं वही स्थान देवयजन है। इसी रहस्य का प्रतिपादन करने के लिये ब्राह्मणकार कहते हैं –

"ऋत्विजो वै देवयजनम् । ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति सैवाह्वला, एतन्नेदिष्ठतममिव मन्यमाहे। शतपथ ३. २. २. ५ ।

वेदि निर्माण के पश्चात् सोमयागीय दीक्षा का वर्णन प्रारम्भ होता है। दीक्षा का परम प्रयोजन प्रकाशित करते हुये शतपथकार ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि यह सोमयाग की दीक्षा वेदवाणी के सकल ज्ञान को प्राप्त करने के लिये ग्रहण की जाती है। यथा ब्राह्मण वचन देखीये—

"सर्व धीक्षते वाचे हि धीक्षते" शत. ३.२.२.३० ।

वैसे तो समस्त यज्ञभाग वैदिक ज्ञान प्राप्ति के आर्ष विधान हैं इसलिये प्रत्येक यज्ञ के लिये "वाग वै यज्ञ" का निर्देश उपलब्ध होता है। परन्तु सोमयाग तो एक बहुत बडा याग है जिसके माध्यम से वैदिक मन्त्रार्थ वेदों ने बहुविध विज्ञान का प्रकाशन किया है। इस याग के माध्यम से यह सब ज्ञान प्रकाशित किया है कि पशु सदृश अबोध बालक को कैसे-कैसे आचार्यजन अपने ज्ञान विज्ञान के आलोक से आप्यायित करके पूर्ण कलायुक्त चन्द्रमा के तुल्य आह्लादक सोम करते हैं विद्वान तैयार किया तथा फिर उनका करते हैं यज्ञ कार्यक्षेत्र में कैसा उपयोग किया। इस सब विज्ञान का प्रकाशन इस सोम याग में किया है। बडे आश्चर्य की बात है कि ब्राह्मण प्रोक्त विज्ञान का अवबोध हजारों

वर्षों से कोई नहीं कर पाया, परन्तु वैदिक वाङ्मय के ऋषि मेधा से अध्ययन कर्त्ता महर्षि दयानन्द ने इस रहस्य का वास्तव ग्रहण कर लिया और यही कारण है कि इस सोमयाग में विनियुक्त याजुष् मन्त्रों का व्याख्यान विद्यादानप्रदान परक करके अपने ऋषित्व को दयानन्द ने प्रकट किया है ।

इसी दीक्षा प्रकरण में ब्राह्मणकार औदूग्राभण होम दीक्षा तथा कृष्णाजिन दीक्षा का भी पठनीय उल्लेख किया है । औदूग्राभण का स्वरूप प्रकट करते हुये, ब्राह्मणकार लिखते हैं—

'उद्गृभ्णीते वा एषोऽस्माद् देवलो कमभि यो दीक्षते । एतैरेवै-त यजुभिरुद्गृभ्णीते । शतपथ ३- -४-१ ।

इस शतपथ वचन का अनुवाद एंगलिश इस प्रकार किया है-
He who is consecrated elevates himself from this world to the world of gols

अर्थात् वह जो इस दीक्षा को ग्रहण करता है वह इस लोक से उठकर देव लोक में चला जाता है । हम प्राक् लिख चुके हैं की देव लोक वस्तुतः विद्यालोक है । इस विद्या लोक में सर्वभावेन अपने आपका समर्पण कर देना ही सोमयाग की दीक्षा का तात्पर्य है । इसी दीक्षा प्रकरण में कृष्णाजिन दीक्षा का भी उल्लेख ब्राह्मण-कार ने किया है । इस के लिये दो कृष्णाजिन विछाये जाते हैं जिन के ऊपर सोमयाग की दीक्षा ग्रहण की जाती है । कृष्णाजिनों का प्रतीकार्थ यहाँ पर शतपथकार ने द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को बताया है वस्तुतः देवों के ये दोनो ही विशेष लोक हैं-द्युलोक । जहाँ ज्ञान प्रकाश का लोक वहाँ पृथिवी लोक उस ज्ञान का कर्म रूप में लानेका यज्ञियलोक है । सोमयाग में इन दोनों लोकों में अनुष्ठातव्य कर्मों के विज्ञान का प्रकाश किया गया है । शतपथ के प्रथम काण्ड में कृष्णा-जिन को वेदत्रयी का प्रतीक भी माना है । यहाँ ब्राह्मणकार ने लिखा है—

यस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां साम्नां च रूपम् । यानि शुक्लानि तानि साम्नां यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि

वा वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूप यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणिः तानि यजुषां रूपम् । सैसा त्रयी विद्या यज्ञः । शत० १.१.४.२

काठकसंहिता तथा जैमिनी ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है जहाँ कृष्णाजिन को वेद का प्रतीक बताया है, उनके वचन इस प्रकार है—

एतद्वै ब्रह्मणो रूपं यत कृष्णाजिनम् । का. स. १३.८
एतद्धि सर्वेषां वेदानां रूपम् । जै. ब्रा० २.६६

अतः प्रकृत सोमयाग के प्रकरण में कृष्णाजिन पर दीक्षा लेने का तात्पर्य निश्चित रूप से यही है कि दीक्षित को वेद ज्ञान के पवित्रालोक में रहकर ही सोमयागीय कर्मों का अनुष्ठान करना है। यही कारण है कि ब्राह्मणकार ने इसी कृष्णाजिन दीक्षा के प्रसंग में कृष्णाजिन के शुक्ल तथा कृष्ण लोगों के सन्धिस्थल का स्पर्श करके इस मन्त्र का जप करने का विधान किया है—

ऋक् सामयोः शिल्पे स्थः यजु० ४.६

उस यजु के व्याख्यान में ब्राह्मणकार ने विस्पष्ट लिखा है—
यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् ऋचां साम्नो प्रतिरूपे स्थ ईत्येवैतदाह
शत० ३.२.१.८

उसी प्रकार "ते वामारभे" (यजु० ४.१) इस यजु के व्याख्यान में अपने अभिप्राय को अधिक विशद करते हुये लिखा—

गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते स छान्दांसि प्रविशति स यदाह ते वामारभे इति ते वां प्रविशामीत्येवैतदाह । शत० ३.२.१.६

एवं दीक्षा प्रकरण के इन ब्राह्मण व्याख्यान वचनों से सर्वथा विस्पष्ट सिद्ध होता है कि सोमयाग की लक्ष्यगामिता विनियुक्त मन्त्रों का यथार्थ बोध कराना है। जैसा कि प्राक् लिखा जा चुका है कि सोमयाग में उस विद्या का प्रकाशन किया है जिसको हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं एक आचार्य कुल का समुचित विज्ञान प्रकाशन जिसके द्वारा पूर्ण गुण सम्पन्न सोमका निर्माण किया जाता है-

तथा दूसरा उस सोम को आचार्य कुल से लाकर उसका कार्य क्षेत्र में यथायोग्य सही उपयोग लेना। इसी बात को ब्राह्मण की भाषा में यदि कहना हो तो कहेंगे— दिव् में सोम का पोषण एवं गोपन तथा वहाँ से यहाँ पर देवों के निमित्त यज्ञ में उसे लाना तथा उसकी यज्ञ में आहुति देना हि सोमयाग है। अतः सोम का प्रतिपादनीय विद्वान् तैयार कैसे किया जाये तथा पुनः उन विद्वानों का सही कार्यक्षेत्र में उपयोग कैसे किया जाये इस सब विज्ञान का प्रतिपादन करना है।

दीक्षा का वर्णन करने के पश्चात् शतपथ कार ने प्रायणीयवेष्टि का व्याख्यान किया है। "प्रायणीय" शब्द की व्याख्या आचार्य सायण ने इस प्रकार की है—

प्रैति प्रारभ्यतेऽनेन सौमिकं कर्मेति प्रायणीयः। शत. भाष्य ३।२।३।१

प्रायणीय शब्द के सायण व्याख्यान का अनुमोदन तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस वचन से भी होता है—

स्वर्गं वा एतेन लोकमुपप्रयान्ति यत् प्रायणीयस्तत् प्रायणीयस्य प्रायणीयस्त्वम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।१।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस प्रायणीयवेष्टि से सोम याग का आरम्भ हो जाता है। इस इष्टि में पाँच देवताओं का वर्णन उपलब्ध होता है जो वस्तुतः इस समस्त सोमयाग के प्रमुख पात्र कहे जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं— अदितिः, पथ्यास्वस्ति, अग्निः, सोमः और सविता। अदिति का अर्थ पृथिवी [28] ब्राह्मण ग्रन्थों में अतीव प्रसिद्ध है। अदिति वस्तुतः इस सोमयाग की आधारभूमि है। जिसको हम ज्ञान विज्ञान का प्रसंग कह सकते हैं। पथ्यास्वस्ति हमारे विचार में प्रापणीय ज्ञान की देवता है। अतएव ब्राह्मणकार ने इसी प्रसंग में स्पष्ट लिखा है—

"वाक् पथ्यास्वस्ति"। शतपथ ३।२।३।८।

इस ब्राह्मण वचन की व्याख्या में सायण ने वाक् शब्द को विशद करते हुये लिखा है—

“[illegible] अच्यते” ।

इसी वाक् वेदवाणी के आर्द्र तथा शुष्क भेद से अग्नि तथा सोम देवता हो जाते हैं। अग्नि शुष्क ज्ञान का द्योतक तथा सोम आर्द्र कोमल ललित ज्ञान का वाचक है। सविता का अभिप्राय प्रकाशित करते हुये शतपथ कारने लिखा है—

“पशवो वै सविता,, । शतपथ ३ । २ । ३ । ११ ।

सविता मुख्य रूप से प्रेरक वता है। अतः ज्ञानार्थिओं का प्रेरक किं वा निर्देशक सविता को माना जा सकता है परन्तु ब्राह्मण-कार ने पशु का निर्देश करके ज्ञापित किया है कि सवितृप्रसूत पशु भी सविता कहलाते हैं अतः सवितृ शब्द से प्रेरक तथा ज्ञानार्थी दोनों का ग्रहण करके ज्ञान प्राप्ति का समग्र निकाय (Eaculty) इन देवताओं के द्वारा व्याख्यात हो जाता है ।

सोमक्रय—

आगे शतपथकार ने सोमक्रयण विधि का उल्लेख विस्तार पूर्वक किया है। सोमक्रय का अभिप्राय ब्राह्मणानुशीलन से यह विदित होता है कि सोमसम्पादक को अथवा स्वयं सोम को उसकी अपनी वैयक्ति गत आकाङ्क्षाओं के अनुसार सौविध्य या मूल्यप्रदान करके उसको संगठन के लिये दीक्षित कर लेना है। ब्राह्मणकार ने दातव्य द्रव्य का नाम सोमक्रयणी लिखा है [30]। प्रत्यक्षतया अनुष्ठीयमान सोम-याग में सोमक्रयणी एक गौ होती है [31] जिसको देकर सोम का क्रय किया जाता है। यह सोमक्रयणी गौ किसका प्रतीक है उसका निर्देश ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत्र उपलब्ध होता है। कुछ विचारणीय ब्राह्मण बचन यहाँ प्रबुद्ध पाठकों के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ—

[१] वाग् वै सोमक्रयणी निदानेन। तामेतयाहुत्या प्रीणाति। प्रीतया सोमं क्रीणाति। शत० ३.२.४.१०

(२) सत्यप्रसवा न एधी। सोमं नोऽच्छेही त्येवैतदाह ३.२.४.१२

(३) वाग् वै सोमक्रयणी निदानेन। शत० ३.२.४.१'

(४) तां नेष्टा वाचयति-तोतो राय: (यजु० ४.२२) इति । अथेनां सोमक्रयणीं संख्यापयति । वृषा वै सोमो योषा पत्नी एष वा अत्र सोमो भवति यत् सोमक्रयणी मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते । तस्मादेनां सोमक्रयणां संख्यापयति । ३.३.१.११

(५) सा बभ्रू पिङ्गलाक्षी सा सोमक्रयणी । शत० ३.३.१.१३

(६) सा स्याद प्रवीता । वाग् वा एषा निदानेन यत् सोमक्रयणी अयातदाम्नी वा इयं वाग् । अयातयाम्न्यप्रवीता । तस्माद् प्रवीता स्यात् । सा स्यादवण्डाऽकुटाऽकाणाऽकणालक्षिताऽसप्तसफा । सा ह्येक रूपा । एक रूपा हीयंवाक् । ३.३.१.१४

उसी प्रकार के वचन अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

यथा तै०सं ६.१.७.४

में "वाग् वां एषा यत् सोमक्रयणी" यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है । सोमयाग के गम्भीर अनुशीलन से प्रतीत होता है कि सोमक्रयणी गौ वस्तुतः सोम के समान धृतवाग् युवती की प्रतीक भूत है । इसी प्रकार की सम्मति ब्राह्मणवाङ्मय के गम्भीर अनुशीलक महाप्रज्ञ स्वामी समर्पणानन्द ने अपने शतपथ भाष्य में भी प्रकट की है । यथा वे लिखते हैं—

"यह सोमक्रयणी यहाँ तक योग्य स्नातिका का स्वरूप बताती है और यही सोम की ठीक पत्नी है" शतपथ भाष्य पाण्डुलिपि तृतीय भाग पृष्ठ ७३.

यथार्थता यह है कि इसी सोमक्रयणी के प्रसंग में विनियुक्त याजुष मन्त्र एक विदुषी कन्या पर ही संगत होते हैं-, न कि गौ पर । तद् यथा विनियुक्त मन्त्र तथा उसका व्याख्यान देखिये—

अनुत्वा माता मन्यतोमनु पिता भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयुथ्य: सा देवि देवमच्छेहि । यजु० ४.२०

ब्राह्मण व्याख्यान—

सा यत्ते जन्म तेन नोऽनुमता सोममच्छेहि । इत्येवै तदाह । देवी ह्येषा देवमच्छेहि यद् वाक् सोमम् । शत० ३.२.४.२०

सायणाचार्य का एतदीय ब्राह्मण व्याख्यान भी देखिये—

"हे सोमक्रयणी! 'त्वा' मात्रादिबन्धुवर्गः क्रयार्थगमनमनुमन्यताम् अनुमतिं करोत्विति मन्त्रभागस्यार्थः। सगर्भ्यः समानगर्भभवः, अनेन भ्राता विशेष्यते "सयुथ्य" यूथं समानजातीयानां सङ्घः समाने यूथे भवस्तादृशः सखा चानुमन्यताम्"।

प्रस्तुत याजुष मन्त्र तथा उसके ब्राह्मण व्याख्यान सर्वथा विस्पष्ट है कि सोमक्रयणी के लिये माता पिता आदि की अनुमति आवश्यक है। पाठक गण विचार करें, क्या गौ के लिये माता-पिता आदि सगे सम्बन्धियों की स्वीकृति लेना कथमपि सम्भव है?

गन्धर्वों द्वारा सोमहरण और उसका भाव—

जब सुपर्णी गायत्री

स्वर्ग से सोम को लेकर आती है तो मार्ग में विश्वावसु नामक गन्धर्व ने सोम को चुरा लिया। शतपथकार ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

तेभ्यो गायत्री सोममच्छापतत्। तस्या आहन्यै गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्। ते देवा अविदुः प्रच्युतो वै परस्तात् सोमः। अथ नो नागच्छति गन्धर्वो वै पर्य मोषिषुरिति शत० ३.२.४.२

ते होचुः योषित्कामा वै गन्धर्वाः। वाचमेवैभ्यः प्रहिणवाम। सा नः सोमेनागमिष्यतीति। तेभ्यो वाचं प्रवहिण्वन्। सैनान्त्सह सोमेनागच्छत्[13] ते गन्धर्वा अन्वागत्याब्रुवन् सोमो युष्माकं वागेवास्माकमिति। तथेति देवा अब्रुवन्। इहो चेदागात् मैनामभीषहेव नैष्ट विह्वयामहा इति। तां व्यह्वयन्त।[4]

तस्यै गन्धर्वा वेदानेव प्रोचिरे। इति वै विद्मइति वयं विद्म इति।[5]

ब्राह्मण के इन सन्दर्भों का अनुशीलन करने से विदित होता है कि गन्धर्व सोम का शायद वह अंश है जो योषित् काम है अर्थात् सोम के अन्दर जो बधुयुत्व[32] है वही विश्वावसु है देव जन सोम के उस गन्धर्व अंश को मधुरवाणीमती विदुषी कन्या को प्रदान करके उसकी इस व्यक्तिगत आकांक्षा को पूर्ण कर देते हैं। परन्तु यह विदुषी देवी ऐसी नहीं है जो उस सोम को दैव कर्म से विमुख

कर दे अपितु उसे नवीन उत्साह प्रदान करती है। यही कारण है कि आगे ब्राह्मणकार ने लिखा है—

अथ देवा वीणायमेव सृष्ट्वा वादयन्तो निगायन्तो निषेदुः । इति वै ते वयं गास्याम इति । त्वा प्रमोदयिष्यामहे इति । सा देवानुपाववर्त.. तद् वा एतदुभयं देवेष्वासीत् सोमश्च वाक् च । शत० ३.२.४.६.७

इसका भाव यह है कि देव विद्वान लोग अपने श्रेष्ठकर्मात्मक यज्ञ को इतना सरस एवं मधुर बनाते हैं जिससे सोम तथा सोम-क्रयणी दोनों अपने आपको देवों के इस महान् यज्ञ कर्म के लिये स्वेच्छा पूर्वक समर्पित कर देते हैं—

द्युलोक में सोम का निवास—

यज्ञ में प्रयोग से पूर्व सोम दिव में था ऐसा निर्देश वैदिक वाङ्मय में विपुलता से मिलता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में असन्दिग्ध शब्दों में सोम को "दिवः शिशु"[33] कहा है शतपथ ब्राह्मण में एकाधिकस्थानों पर यह उल्लेख किया गया है कि "दिवि ह वै सोम आसीत्" अतः यज्ञ में लाने से पूर्व सोम द्युलोक में था, यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है। द्युलोक में विद्यमान सोम का जो वर्णन शतपथकार ने किया है उससे सोम के वास्तविक स्वरूप के अवगमन में बड़ी सहायता मिलती है शतपथकार लिखते हैं –

दिवि वै सोम आसीत् अथेह देवाः । ते देवा अकामयन्त आ नः सोमो गच्छेत् तेनागतेन यजेमहीति । त एते मयिऽसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च । वागेव सुपर्णी इयं कद्रूः । ताभ्यां समदं चक्रुः । ते हर्तीयमाने ऊचतुः यतरा नौ दवीयः परापश्याद् आत्मानं नौ सा जयादिति । तथेति । साह कद्रूरुवाच परोक्षस्येति, ।[3]

सा ह सुपर्णी— उवाचास्य सलिलस्य पारेऽश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवते तमहं पश्यामीति । तमेव त्वं पश्यसि इति । तंहीति । अथ ह कद्रूरुवाच तस्य बालो न्यषञ्जि । तममुं वातो धुनोति तमहं पश्यामीति ।[4]

इन आख्यानात्मक काण्डिकाओं पर विचार करने से विदित होता है कि ब्राह्मणकार इस आख्यान के द्वारा किसी विशेष विज्ञान का प्रकाशन करते हैं। शतपथ के अनुसार इतना विस्पष्ट

है कि सुपर्णी और कद्रू कोई पक्षिणी या सर्पिणी विशेष नहीं है अपितु वाक् विशेष सुपर्णी है तथा पृथिवी कद्रू है। अगली काण्डिका में शतपथकार इस आख्यान को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं—

सा यत् सुपर्णी-उवाचास्य सलिलस्य पार इति । वेदिर्वै सलिलम् । वेदिमेव सा तदुवाच । अश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवत इति । अग्निर्वा अश्वः श्वेतः । यूपः स्थाणुः । अथ यत् कद्रूरुवाच तस्य बालौ न्यसञ्जि तमसुं वातौ धुनोति तमहं पश्येमीति रशना हैव सा । शतपथ ३ । ६ । २ । ५ ।

इस शतपथ व्याख्यान कण्डिका से सर्वथा स्पष्ट है कि सलिल का अर्थ वेदि है। वेदि का अर्थ यज्ञ स्थान अतः जहाँपर शिक्षा यज्ञ का सचालन सोम निर्माण के लिये हो रहा है वह स्थान ही प्रकृत में वेदि है। इसकी पुष्टि अथर्ववेद के ब्रह्मचारी सूक्त के अध्ययन से भी होती है। वहाँ सूक्त के अन्त में पठित मन्त्र में कहा गया है—

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमाने समुद्रे । अथर्ववेदः ११.७.२५

समुद्र शब्द भी उसी विद्याकाल या लोक का द्योतक है। जैसा कि इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र से विदित होता है। मन्त्रांश इस प्रकार है- "स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रय" ११.७.६

सायण के नाम से उपलब्ध वेद भाष्य में वैदिक शब्दों की अर्थ-शक्ति का सम्यगाकलन न करते हुये इस मन्त्र में आये 'समुद्र' शब्द की व्याख्या में विचित्र लीला की है, उनका अर्थ इस प्रकार है—

"समुद्रम्—उत्तर दिगवस्थितं समुद्रम्"

भला इनसे पूछे उत्तरदिशा में कौन सा समुद्र अवस्थित है तथा उसमें जाने का ब्रह्मचारी का क्या प्रयोजन है। वैदिक शब्दों के यथार्थ दर्शी महर्षि दयानन्द की सूझ देखिये उन्होंनें संस्कारविधि में कितना सुसंगत अर्थ लिखा—"वह ब्रह्मचारी पूर्व समुद्र रूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहस्थाश्रम को शीघ्र प्राप्त करता है। नमः ऋषये

वेदार्थ विदे !! वस्तुत दयानन्द ने वेदों का अध्ययन ऋषि प्रज्ञा से किया था, उन्होंने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से ऋषिकृत वेद व्याख्यानों का श्रद्धाश्रमसमन्वित स्वाध्याय करने का महान् तप किया था ।

तीन वैदिक समुद्र और तीन स्वर्ग लोक—

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से स्पष्ट विदित होता है कि हमारे जीवन के तीन वैदिक समुद्र हैं जिन में हम यदि वेद आज्ञाओं के अनुकूल सम्यक् श्रवणमनन करते हैं तो सचमुच हमारे लिये ये तीनों समुद्र स्वर्ग हो जाते हैं इसलिये शतपथकार ने लिखा—

"इमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गालोकाः ।   शत० ७.५.१.६

दो समुद्र का उल्लेख ब्रह्मचर्य सूक्त के मन्त्र द्वारा स्पष्टतया हो गया है अर्थात् पहला समुद्र है ब्रह्मचर्य आश्रम दूसरा गृहस्थ तथा तीसरा समुद्र वानप्रस्थ है । इन तीनों समुद्रों में यदि वेद ज्ञान रूपी सलिल परिपूर्ण रहता है तो हम पूर्ण सुखप्राप्त करते है । इन्ही तीनों समुद्रों को पृथिवी लोक अन्तरिक्ष लोक तथा द्युलोक भी कह सकते हैं । चतुर्थ लोक सन्यास आश्रम भी है परन्तु वह द्युलोक से भी आगे है अतः वह दृष्टिगोचर नहीं होता । प्रकृत में सलिलस्य पृष्ठे' का भाव यही है कि वह ब्रह्मचारी अपने इस प्रथम समुद्र में वेद ज्ञान सलिल के पवित्र वातावरण में अपेक्षित गुणों का लाभ करता है । अतः सलिल वस्तुत इस ज्ञान यज्ञ की वेदि है । इस प्रसंग में अथर्ववेद के इस मन्त्र का अन्तिम भाग भी सोम के स्वरूपावबोध में अतिव सहकारी है । मन्त्रांश इस प्रकार है—

सस्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहुरोचते"अथर्व वेदः

यहाँ मन्त्र में ब्रह्मचारी का विशेषण बभ्रु शब्द आया है जो वैदिक वाङ्मय में सोम के लिये आधिक्येन प्रयुक्त दृष्टिगोचर होता है जिससे ब्रह्मचारी तथा सोम की एकता का स्पष्ट भान होता है । जो पाठक बभ्रु तथा सोम का विशेषण विशेष्य भाव देखना चाहते हैं उनके लिये हम कुछ वैदिक वचन उधृत कर रहे हैं—

(१) बभ्रवे न स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे । सोमायगाथामर्चति ।
ऋ. ९.११.४

(२) तुभ्यं गावो घृतं पयो बभ्रो दुदुह्रे । ऋ.९.३१.५
(३) अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारणा । ऋ. ९.३३.२
(४) अति ह्रांसि बभ्रवः । सोमऋतस्य धारया । ऋ. ९.६३.४
(५) त्वाहं सोम ...... पुरुणि बभ्रो विचरन्ति । ऋ ९.१०७.१९

यद्यपि ऋग्वेद में यह बभ्रु शब्द सोम भिन्नो का विशेषण भी दृष्टिगोचर होता है यथा दशम मण्डल के अक्षसूक्त (३४.१४ तथा ३४.११) में बभ्रु अक्षों का विशेषण पठित है तथा इसी मण्डल के सूक्त ९७ के प्रथम मन्त्र में ओषधियों को बभ्रु कहा गया है। दूसरे मण्डल के ३३ वें सूक्त के ३५ वें मन्त्र में रुद्र का विशेषण भी बभ्रु आया है तथा इसी सूक्त के पञ्चम मन्त्र में जो रुद्र देवताक है परन्तु वैंकट ने यहाँ सोम का ही विशेषण बभ्रु को माना है। वैंकट ने नृदूदर का अर्थ निरुक्त के प्रमाण से सोम करके बभ्रु आदि शब्द उसके विशेषण स्वीकार किये हैं ३३ खा पूरे वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से यही विदित होता है कि बभ्रु का अर्थ निर्धूम अग्नि के सदृश जो जो लालिमा लिये हुये वर्ण हैं, वह रंग है। यही रंग सोम का होता है तथा यही ब्रह्मचारी का अतः दोनों का अर्थ एक ही है।

यही कारण है कि शतपथकार ने बभ्रु तथा सोम अभेदव्यपदेश बहुत्र किया है। तद् यथा कुछ शतपथ वचन देखिये—

(१) बभ्रुरिव हि सोमो राजा ।
(२) स हि सोम्यो यद् बभ्रुः । ५.२.५.१२
(३ सोमो वै बभ्रुः । ६.६.३.७
(४) सोमो वै बभ्रुः । ७.२.४.२६

ऐसे ही निर्देश अन्यत्र भी वैदिक वाङ्मय में देखे जा सकते हैं यथा मैत्रायणी संहिता का वचन देखिये—

बभ्रु पिङ्गलो भवति सोमस्य रूपम् । मै. स. २.५

इसी प्रकार का वचन तैत्तिरीय संहिता २.१.३.४ में भी देखा जा

सकता है जो कि अथर्ववेदीय 'स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहुरोचते' के साथ पूर्णरुपेण मेल खाता है। अतः ब्रह्मचर्या सेवन से उद्भुत तेज तथा लालिमा ही बभ्रु है तथा सोम एक ऐसा ही विद्या-व्रत स्नातक है जो अपने तेज के कारण सर्वजन दर्शनीय हो गया है।

केवल इतना ही साम्य सोम तथा ब्रह्मचारी के वर्णन में नहीं है अपितु इस ब्रह्मचारी सूक्त के द्वितीय मन्त्र में निर्देश किया गया है कि ब्रह्मचारी के रक्षार्थ गन्धर्व उसके साथ रहते हैं। यद्यपि पूर्ण विश्वास के साथ हम यह नहीं कह सकते कि इन गन्धर्वों का वास्तविक अभिप्राय क्या है। परन्तु जिस प्रकार ब्रह्मचारी की रक्षार्थ अथर्ववेदीय इस सूक्त में गन्धर्वों का उल्लेख है ठीक इसी प्रकार माध्यन्दिन शतपथ में सोम के रक्षक गन्धर्वों को निरूपित किया है। यथा देखिये —

दिवि ह वै सोम आसित ......तमेते गन्धर्वाः सोम रक्षा जुगुपुः शत० ३.६.२.६

आगे शतपथकार ने गन्धर्व के अर्थ को विस्पष्ट करते हुये लिखा है "इमे धिष्ण्या इमा होत्राः" आचार्य सायण ने अपने भाष्य में यहाँ इस प्रकार अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया है "ते के (गन्धर्वाः) य इमे सदसि वर्तमाना धिष्ण्या। धिष्ण्यों का वर्णन शतपथकार ने इसी ब्राह्मण के प्रारम्भ में इस प्रकार किया है—

विजामानो दैवस्य धिष्ण्याः। इमे समङ्काः। ये वै समङ्कास्ते विजामानः। एते [3] है वास्यैते आत्मानः। ३.५.२.१

कण्डिका का सायण व्याख्यान भी पठनीय है वह इस प्रकार है- "धिष्ण्य पदार्थविधानार्थमाख्यायिकामाह-विजामानो हैवास्येत्यादिना। ये धिष्ण्या ते अस्य यज्ञस्य विजामानः भ्रातर न बान्धवाः। कुत इत्याहा-इमे समङ्काः समानचिन्हा यत एवमतो विजामान इत्यर्थः समानचिन्हानां भ्रातृत्वे व्याप्ति दर्शयति ये वै समङ्कास्ते विजामान इति एत [3] एते खलु अस्य यज्ञस्य 'आत्मानः' अतो विजामान इत्येतदुपपन्नम्। तस्मात् सोमयागे धिष्ण्याऽकर्तव्याः।"

प्रस्तुत शपपथ वचन तथा उसके सायण व्याख्यान के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि धिष्ण्य विद्वान् विशेष है अथवा ये सोम के

सहाध्यायी विद्वान् है। शतपथ के षष्ठ काण्ड में प्राणों को भी धिष्ण्य कहा गया है परन्तु सोमयाग के इस प्रसंग में धिष्ण्य विद्वान् विशेष ही प्रतीत होते हैं। निरुक्तकार ने भी धिष्ण्य पद का निर्वचन विद्वान् परक ही किया है—

"धिष्ण्याः धिषणायां भवा धिषणावाक्। धिषेर्दधात्यर्थे धीसादिनीति वा धीसानितीति वा"। नि० ८-१

अर्थात् धिषणा नाम वेदवाणी का है उस वेदवाणी में वर्तमान रहने वाले विद्वान् ही 'धिष्ण्य' हैं।

शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड में गन्धर्वों का वर्णन अतीव रोचक ढंग से किया है जिससे हम गन्धर्व शब्द के अर्थ को आसानी से समझ सकते हैं —

तद्वा अद आग्नेयमिद्वा उच्यते। यथा तत् ऋषिभ्यो यज्ञः प्रारोचत। तं तथाऽतन्वत। तद् यज्ञं तन्वानान् ऋषिन् गन्धर्वा उपनिषेदुः। ते ह स्म सन्निदधति (प्रत्यवेक्षणं कृतवन्तः इति सायणः) इदं वा अत्यरिचन् इदमूनमक्रन्निति। स यदेषां यज्ञः सन्तस्थे (समाप्तो बभूवेति सायणः) अथैनांस्तद् दर्शयाञ्चक्रुः। इदं वा अत्यरीरिचत इदमू नमकर्तेति ...... ते हते गन्धर्वा आसुः। शत० ११.२.३.६

इस सन्दर्भ से सर्वथा स्पष्ट है कि गन्धर्व विद्वान् विशेष हैं। यही गन्धर्व 'धिष्ण्य' कहलाते हैं जो सोम या ब्रह्मचारी की दिवम् में रक्षा करते हैं।

इस प्रसंग में हमारा लक्ष्य गन्धर्व और धिष्ण्य पदों का अर्थ निश्चित करना नहीं है अपितु यह दिखाना मात्र है कि ब्रह्मचारी तथा सोम इन दोनों की रक्षा गन्धर्व करते हैं यह साम्य दिखाना है।

स्वर्ग में सोम के परम रक्षक दिक्षा और तप—

दिव् में सोम कैसे वातावरण में रहता है तथा उसके प्रतिपल रक्षक कौन २ हैं इसका जो वर्णन शतपथ में उपलब्ध होता है उसको

पढकर हमारे सोमस्वरुप विषयक सभी विभ्रम दूर हो जाते हैं। शतपथ सन्दर्भ इसप्रकार है –

'हिरण्मय्योर्ह कुश्योरन्तरवहित आस । ते ह स्म क्षुरपवी निमेषं निमेषमभिसन्धत्तः । दीक्षातपसौ हैव ते आसतुः । शत० ३.६.२.६

पाठक वृन्द ! शतपथ का यह सन्दर्भ इतना स्पष्ट है कि इसके अर्थ में कुछ भी खींचातानी करने की आवश्यकता नहीं है। सायण का व्याख्यान भी यहाँ इस प्रकार प्रवृत्त हुआ—

"सा गायत्री दिवः सोममाहरत्"—इति यत् संग्रहेणोक्तम्। तद् विस्पष्टयति हिरण्मय्योर्ह कुश्योरित्यादिना । हिरण्मय्योः कुश्योः आयुधयोः अन्तः अवहितः आच्छन्नः सोमोऽभूत् । 'जानपद० (पा० ४.१.४२) इत्यादिना अयोविकारार्थात् कुशशब्दात् ङीष् ते कुश्यौ क्षुरपवी क्षुरधारे इव तीक्ष्णाग्रे निमेषं निमेषं सर्वदेत्यर्थः । अभिसन्धत्तः यथाऽन्यो नापहरे देवं रक्षतइत्यर्थः कुश्योर्वास्तवस्वरूप-माह दिक्षात पसाविति ।

इस सायण भाष्य तथा शतपथ सन्दर्भ से सर्वथा स्पष्ट है कि दिव् में सोम दो सुवर्ण कुशों के संरक्षण में था, जो उसकी प्रतिपल (प्रतिक्षण)रक्षा करती है। वे सुवर्ण कुशी वस्तुत दीक्षा और तप ही है। शतपथ के अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर्त्ता जुलियस एगलिंग ने भी अपने अनुवाद में यही लिखा कि—

He was enclosed between two golden Cups edged clased to gether at every twinkling of the eye and these two forsooth were consecration and penance.

अब हम अपने सुधी पाठकों से पूछते हैं कि क्या दिक्षा और तप का सम्बन्ध किसी लता आदि के साथ कथमपि संगत हो सकता है। अतः हम बिना किसी संकोच के पूर्ण दृढता के साथ प्रतिज्ञा कर सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यात सोमयाग का मुख्य तात्पर्य बाह्य कर्मकाण्ड में कदापि नहीं है। सच यह है कि सोम वह है जिसने

दीक्षा तथा तप के साथ वेदत्रयी विद्या का ग्रहण आचार्य कुल में विधिवत् किया है तथा ऐसे विद्यातपोभ्याम् पूतात्मा-नाना विभूतियों से विभूषित स्नातक को देवों ने किस प्रकार अपने यज्ञ में उपयोगी बनाना, कैसे इस सोम की शक्तिरूपी रसों की आहुति यज्ञ में प्रदान करनी चाहिये यह समस्त विज्ञान सोमयाग के द्वारा प्रकाशित किया गया है।

स्वर्ग से सोम का आनयन —

सोम क्रय के पश्चात् ब्राह्मणकार ने सोमानयन का प्रतिपादन किया है। सोम को एक रथ में लाया जाता है। जिसमें कृष्णाजिन विछाते हैं। कृष्णाजिन विछाते समय मन्त्र बोला जाता है 'आदित्या स्त्वगासि" यजु० ४.३०) ब्राह्मण में अदिति का अर्थ यहाँ भी पृथिवी ग्रहण किया गया है तथा कृष्णाजिन फैलाने का हेतु जो प्रथम काण्ड में निरुपित किया गया है वही बताया है। जिसका उल्लेख इस लेख में हम पूर्व कर चुके हैं। इस प्रकार यजु का इस प्रसंग में यह भाव होगा कि जिस प्रकार त्वचा हमारे शरीर की रक्षा करती है उसी प्रकार यह कृष्णाजिन जो वेदवाणी की प्रतिक है वह पृथिवी की रक्षा करती है। इस प्रसंग में एक द्रष्टा ने याजुष मन्त्र का विनियोग किया है जिसमें सोम को अद्रि में निरुपित किया है मन्त्रांश इस प्रकार है

"दिवि सूर्यमदधत् सोममद्रौ" यजु ४.३१

इस यजु के विनियोग द्वारा पाठकवृन्द को भ्रम हो सकता है कि सोम का अर्थ पर्वत में उगने वाला कोइ पौधा ही है। यह ठीक है कि प्रत्यक्षतया अनुष्ठातव्य सोमयाग में प्रतीक रूप में जो सोम उपयोग में लाया जाता था वह निश्चय रूप से पर्वतों पर उगने वाला कोई वनस्पति विशेष ही था परन्तु जैसे उस सोम का प्रतीयमान अर्थ उस से भिन्न है इसी प्रकार अद्रि भी किसी विशेष अर्थ का द्योतक है। अद्रि के विषय में दो प्रकार के वचन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। एक सोम अद्रि पर्वत में था दूसरा अद्रिया प्रावो से सोम का अभिषव किया जाता है। दूसरे प्रकार के निर्देश को सोमाभिषव के प्रकरण में लेंगें। प्रकृत में सप्तम्यन्त अद्रि शब्द पर

विचार करते हैं। अद्रि शब्द का निर्वचन आचार्य यास्क ने इस प्रकार किया है—

"आदृणात्यनेनापि वत्ते सोमाद इति ह विज्ञायते" नि० ४.४

निरुक्त के नवम अध्याय में भी अद्रि शब्द का अर्थ उपलब्ध होता है जो इस प्रकार है—

"अद्रयः पर्वता आदरणीयाः" नि. ९.१

तै. सं. के भाष्य में भट्ट भास्कर ने अद्रि शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है "अत्ता आहर्त्ता तुषाणामद्रिः" तै. सं. भाष्य १.१.५

ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रतीक शैली में तुष अवाञ्छनीय दुर्गुणों के प्रतीक हैं। इसलिये अद्रि दुर्गुणों के निवारक हैं। सप्तम्यन्त अद्रि शब्द सम्भवतः उन विद्वानों से आसेवित पर्यावरण का वाचक है जिसमें सोम का सर्वाङ्गीण विकास होता है। भौतिक दृष्टि से पर्वतों का नदी जुष्ट रमणीय प्रदेश विद्यासंस्थानों के लिये सर्वतोभद्र होता है, यह निर्देश भी उपपन्न हो जाता है। इसलिये शतपथ में उल्लेख मिलता है कि—

'दिविहि सोमः। वृत्रो वै सोम आसीत्। तस्यैतत् शरीरं यद् गिरयो यदश्मानः'। शत. ३.९.४.९

आभिधायिक अर्थ से यह भी विज्ञात होता है कि सोम का शरीर दृढ एवं स्थिर है। यहाँ यह भी आश्चर्य कि बात है कि गिरी शब्द 'गृशब्दे' ३५ धातु से बनता है तथा इसी धातु से गुरुशब्द बनता है ३६। वास्तविकता यह है कि वैदिकवाङ्मय के ये शब्द द्विविध अर्थ के प्रकाशन में सर्वथा समर्थ हैं अतः गिरी, अद्रि, ग्रावा तथा वनस्पति आदि ये शब्द उभयविध अर्थों के प्रकाशक हैं।

आतिथ्येष्टि या स्नातक का स्वागत—

सोम को स्वर्ग से लाने का पश्चात् आतिथ्येष्टि का बिधान ब्राह्मणकार ने किया ब्राह्मण के अनुशीलन से स्पष्ट विदित होता है कि सोम ही वह अतिथी है जिसके लिये यह इष्टि की जाती है।

तद्यथा शतपथ वचन देखिये—

"अतिथिर्वा एष आगच्छति यत् क्रीतः सोमः" शत० ३.४.१.२

यहाँ जो हवि प्रदान की जाती है वह विष्णु के नाम से प्रदान की जाती है इसका भाव ब्राह्मणकार ने स्वयं इस प्रकार विशद किया—

विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति' शत० ३.४.१.१४

अर्थात् जो यज्ञ के लिये ग्रहण करता है वह वस्तुत विष्णु के लिये ही ग्रहण करता है। यज्ञ और विष्णु वस्तुत एक ही है। साथ ही जो यज्ञ के लिये दीक्षित हो जाता है वह भी विष्णु कहलाता है अतः प्रकृत में सोम को ही विष्णु कहा गया है इसलिये आचार्य सायण ने अपने भाष्य में स्पष्ट लिखा –

"सवन त्रयव्यापि त्वाद्वा सोमो विष्णुः" शत ३.४.१.६

भाष्य में यही कारण है वैदिक वाङ्मय के ऋषि दृष्टि से अध्येता महर्षि दयानन्द जी ने इस प्रसंग में विनियुक्त मन्त्र (यजु ५.१) के व्याख्यान में विष्णु शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

"विष्णवे सर्वविद्या कर्म व्यापन स्वभावाय ३७।

अतः सोम यज्ञ के लिये समर्पित होने के कारण विष्णु रूप है तथा उसका आतिथ्य भी विष्णु रूप में ही किया जाता है।

सोमाभिषव अर्थात् सोम को सर्वथा निर्दोश करना।

सोम के अभिषव का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में बहुत्र उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में अद्रियों द्वारा सोमाभिषवन के संकेत एकाधिक बार दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ निर्देश पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) हस्तच्युते भिरद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन। ६.११.५

(२) तं सानावधि जामयो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । ६.२६.५

(३) अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ सृज । ९.५१.१

(४) अद्रिभिः सुतः । ६.७१.३

(५) अद्रिभिः सुतो मतिभिश्चनोहितः । ९.७५.४

(६) नृधूतो अद्रिषुतः । ६.७२.४

(७) अद्रिभिः सुतः । ६.८६.२३

इन मन्त्रों पर दृष्टि पात करने से सहसा यह सन्देह हो जाता है कि अद्रियों द्वारा सोम के अभिषव का अभिप्राय क्या होगा । क्यों कि अद्रि का मुख्य अर्थ लोक प्रसिद्ध पर्वत या पाषाण खण्ड होता है अतः यह विचिकित्सा स्वाभाविक है कि इन अद्रि अथवा ग्रावो का प्रतीक अर्थ क्या होगा । अद्रि तथा ग्रावा के प्रतीकार्थ की विचारणा से प्राक् हम सोमाभिषव की ब्राह्मण प्रोक्त प्रयोजनियता का विस्पष्ट कर देना चाहते हैं, जिससे पाठकवृन्द को यह ठीक-ठीक ज्ञात हो जाये कि सोमाभिषव की वास्तविक लक्ष्यगामिता क्या है । शतपथ ब्राह्मण में सोमाभिषव के भाव को कई जगह प्रकाशित किया है, तद्-यथा तीसरे अध्याय में ब्राह्मणकार लिखते हैं—

"घ्नन्ति वा एनमेतद् यदभिषुण्वन्ति । तमेतदाह छन्दसांत्वा राज्याय छन्दसां साम्राज्याय न वधायेति । ३.३.२.६

अर्थात् यह जो सोम का अभिषव किया जाता है वह वस्तुतः उसका हनन किया जाता है । परन्तु यह हनन या अभिषव उसके वध के लिये नहीं होता अपितु छन्दों द्वारा प्रतिपादित धर्म के राज्य वा साम्राज्य की स्थापना के लिये किया जाता है । वस्तुस्थिति यह है कि यह जो भी याज्ञिक कर्मकाण्ड में कूटना या पीसना आदि हविष द्रव्यों का किया जाता है उसका उद्देश्य हविष द्रव्यों का वध करना नहीं अपितु उसका उद्देश्य ब्राह्मण वचनों में इस प्रकार प्रकट किया गया है—तद्यथा पूर्णमास याग में हविष द्रव्य पोषण का प्रयोजन प्रकाशित करते हुये लिखा है—

'अथ पिनष्टि । प्राणाय त्वोदानायत्वा व्यानाय ...तद्

यद्येवं पिनष्टि । जीवं वै देवानां हविरमृतानामथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं हनन्ति । १.२.१.२०

अर्थात् जो यह ऊखल मुसल से पेषण किया जाता है वह उसके प्राण उदानव्यान आदि के पोषण के लिये किया जाता है क्यों कि अमृत देवों की हवी भी अमृत सप्राणया पुष्ट प्राण होनी चाहिये। अतः पेषण अभिषव आदि का भाव यही है कि अभिलक्षित में से दोष को दूर कर के समग्रशक्तियों से उसको युक्त करना ही है। अतः सोम याग के प्रकरण में शतपथ कार ने सोमाभिषव के भाव को विस्पष्ट करते हुये लिखा —

'अथ परिहरिष्यन् यं द्विष्यात् तं मनसा ध्यायेत अमुष्याहं प्रहरामि न तुभ्यमिति । यो नु मानुषं ब्राह्मणं हन्ति तं-वेव परिचक्षते । अथ किं य एतम् । देवो हि सोमः । हनन्ति वा एनमेतद् यदभिषुण्वन्ति । तमेतेन हनन्ति तथा त उदेति तथा संजीवति तथाऽनेनास्य भवति । यद्यु न द्विष्यात् अपि तृणमेव मनसा ध्यायेत । तथोऽनेनस्य भवति ।
शत. ३.९.४.१७

कण्डिका के अर्थ के विषय में हम कुछ न लिखकर एगलिंग का अनुवाद ही प्रस्तुत कर देना उचित समझते हैं —

Bing about to beat the Soma with the pressing stones let him think in his mind of him he beats I strike (N:N) not thee. Now who Soever kills a human Brahrnah here he for soothisdeemed guilty how much more sohe who striks him (Soma) for Soma is a god. But thy kill whim when thy press him thy kill him with that (Stone) thus he rises from thence thus he lives and thus no guilt is incurred But he hate no one he may even think of strow and thus no guilt is incurred.

शतपथ की इन कण्डिका में सोमाभिषव के वास्तव को असन्दिग्ध शब्दों में प्रकाशित कर दिया है। अतः निःसंकोच मन से कहा जा सकता है कि साम के अभिषव का अभिप्राय उसके दोष दुर्गुण को

दूर करने में है। यह सर्वथा सत्य है कि दोषों को दूर करने के लिये सोम को कठिन तपस्याओं से गुजरना पडता है ब्राह्मण कार ने यह भी संकेत कर दिया है कि सोमाभिषव कर्त्ताओं को इस बात का निश्चय सोम को करा देना चाहिये कि इस अभिषव रूप कष्टदायिनी तपस्या से तुम्हारा विनाश नहीं होगा अपितु तुम्हारे दुरित दूर होंगें और फिर तुम और भी अधिक सजीव होकर देवकार्य को सम्पन्न कर के कृतकृत्य हो जाओगे। इस प्रसंग में यजुर्वेद का ६-५ मन्त्र तथा उसका ब्राह्मण व्याख्यान पठनीय है जो इस प्रकार है—

स प्रहरति 'मा भेर्मा संविक्थाः' इति मा त्वं भैषिः मा संविक्थाः अमुष्याहं प्रहरामि न तुभ्यमति एवैतद्याह- 'ऊर्जं धत्स्व' इति या धत्स्वेत्येवैतदाह धिषणे वीडवी सतो वीडयेथामूर्ज्जं धायाम इति इमे एवैतत् फलके आहु. इत्युहैके आहुः। कि नु तत्र याऽन्ये फलके भिन्द्यात् इमे ह वै द्यावापृथिवी। एतस्मांद्वज़ादुद्यतात् संरेजेते। ताभ्यामेवैनमेतद् द्यावापृथिवीभ्यां शमयति तथे मे। शान्तो न हिनस्ति। ऊर्जं दध्याथामित्येव तदाह। 'पाप्मा हतो न सोमः।' तदस्य सर्वं पाप्मानं हन्ति। शत० ३.९.४.१८

इस शतपथ कण्डिका से सर्वथा विस्पष्ट है कि सोमाभिषव से सोम में नूतन ऊर्जाओं का आधान होता है तथा वस्तुतः पाषाण प्रहार सोम के ऊपर नहीं किया जाता अपितु उसमें विद्यमान उन दुर्वासनाओं पर किया जाता है जो उसके सर्वविध विकास में बाधक हैं। इस लिये याजुषी श्रुतिने स्पष्ट रूप से कहा कि इससे सोम के अन्दर जो पाप है उसका हनन होता है न कि सोम का।

सोम तथा वृत्र—

वृत्र का वर्णन वैदिकवाङ्मय में बहुत्र उपलब्ध होता है। निरुक्तकार यास्क के वृत्र शब्द का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

'तत्र को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्टोऽसुर इत्यैतिहासिकाः'
नि: २.५.१६

अर्थात् नैरुक्त आचार्य वृत्र का अर्थ अपनी व्याख्यान प्रणाली के अनुसार मेघ तथा ऐतिहासिक अर्थात् सामाजिक इतिवृत के घटना

क्रम के माननेवाले विद्वान् वृत्र का अर्थ त्वाष्ट्र असुर करते हैं। इसका भाव यह है कि भौतिक प्रक्रिया में वृत्र का अर्थ सूर्यप्रकाश का रोधक मेघ है [37] ख।

तो लोक पक्ष में वृत्र लोक कल्याण के पवित्र भावों के आलोक का अवरोध करके वैयक्तिक अभिकाङ्क्षाओं की तरफ प्रवृत्त करने वाले भावों तथा इस प्रकार के भावों से व्याप्त असुह लोगों का वाचक है। यथार्थता तो यह है कि वृत्रत्व प्रत्येक मनुष्य के अन्दर है यह सबको घेर करके बैठा है कहीं स्थूल रूप धारण करके मनुष्य को (विशालवादल यथा सूर्य को आवेष्टित कर लेता है) आवेष्टित करके पापाचरण में प्रवृत्त कर देता है तो कहीं मर्यादित सूक्ष्मरूप में रहता हुआ अभिष्ट की सिद्धि कर देता है। इसलिये निरुक्तकार ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है—

"वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्द्धतेर्वा यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति । विज्ञायते यदवर्द्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । नि० २.५.१७

इन नैरुक्त निर्वचन विज्ञान का मूल ब्राह्मणों में इस प्रकार उपलब्ध होता है—"स इदं सर्वं वृत्वाशिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम"।
शत० १.६.३.९

अतः सोम में भी वृत्र सुप्त अथवा असुप्त अवस्था में वर्त्तमान रहता है। यही कारण है कि ब्राह्मण में इस प्रकार के निर्देश उपलब्ध होते हैं कि वृत्रो वै सोम आसित्। शत० ३.४.३.१३

वृत्रो वै सोम आसित्। शत० ९.४.२.४

सोमो वृत्रः का० स० २४.९

सोमाभिषव में इसी अमर्यादित वृत्र को जो पापात्मक हो जाता है इसका हनन किया जाता है। वृत्र का सर्वभावेन उन्मूलन लोक में न तो सम्भव ही है और न अभीष्ट ही है कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की स्वीय आकाङ्क्षाओं का सर्वथा नाश सामाजिक

स्थिति में सम्भव नहीं है। अतः उसको यज्ञिय बनाना ही समुचित है। इस प्रसग में शतपथ का एक अतीव रोचक सन्दर्भ है जिसमें आलङ्कारिक रीति से यह प्रकाशित किया गया है कि सोम को सर्वभावेन समर्पित नहीं करना चाहिये शतपथ सन्दर्भ इस प्रकार है।

"अथ यस्मात् सोमो नाम। यत्र वा एषोऽग्रे देवानां हविर्बभूव। तद्धेक्षाञ्चक्रे मैव सर्वेणात्मना देवानां हविर्भुवमिति। तस्य या जुष्ततमा तनुरास तामपनिदधे। तद्ध देवा अस्पृण्वत। ते होचुः- उप वै तां प्रवृहस्व सहैव न एतया हविरेधीति। तां दुर इवोप प्राबृहत स्वा व म एषेति। तस्मात् सोमो नाम। शत० ३. ९. ४. २२

इस आलङ्कारिक शतपथ सन्दर्भ का अर्थ इस प्रकार है। अब जिस कारण यह सोम, सोम कहलाता है उसे बताते हैं। जहां पर यह सोम पहले देवों की हवि बना वहां सोम ने नहीं चाहा कि मैं सर्वात्मना देवों की हवि बन जाऊं। इसलिये उसने जो अपना सबसे अधिक प्यारा भाग था उसे छिपा लिया। उसी के लिये देवों ने भी चाहा। उन देवों ने कहा, हे सोम। तुम उस अपने प्रियतम भाग को भी यहाँ लाओ और उसके साथ ही हमारी हवि बनो। इस प्रकार कहने पर सोम ने अपने उस प्रियतम तनु को और भी दूर करके यह कहा कि "स्वा मे एषेति" अर्थात यह तो मेरी अपनि तनु है इसलिये 'स्व मे' से ही सोम कहलाता है। इसका सार यही समझ में आता है कि जो सोम की व्यक्तिगत अभिप्साएं यज्ञ में वाधक नहीं उनमें उसे स्वतन्त्र ही रहने देना चाहिये। पाठकवृन्द को हम स्मरण करा देना चाहते हैं कि जबमें व्यक्तिगत अभिप्साएं अमर्यादित होकर यज्ञ में बाधक हो जाती हैं तब उन्हें हम ब्राह्मण की भाषा में त्वाष्ट्र असुर या वृत्रासुर कहेंगे तथा ये कुत्सित अमर्यादित यज्ञ विघातक भावनाएं जिन व्यक्तियों में होंगी वे भी असुर कहलायेगें तथा ये यज्ञ के लिये रक्षक के रूप में दीक्षित इन्द्र के लिये हननीय तथा दण्डनीय हो जाते हैं। यही कारण है कि इन्द्र को वृत्रघ्न कहा जाता है भौतिक पक्ष में जब बादल खूब भारी हो जाते हैं तो सूर्य उन्हें मारकर गिरा देता है। दोनों पक्षों के इस अध्ययन से जिस वैदिक विज्ञान का प्रकाशन होता है वह अतीव हृद्य तथा अद्भुत है।

सोम — हवि तथा देव दोनों है—

यज्ञ का लक्षण कात्यायन श्रौत सूत्र में यह मिलता है कि—

"देवता द्रव्यं त्यागो यागः" १.१.२

अर्थात् देवता तथा देवों को प्रदान की जाने वाली हवियाँ तथा इन हवियों का देवताओं के लिये त्याग ही याग कहलाता है। अतः यज्ञ के दो प्रमुख भाग हैं एक देव तथा दूसरा हवि। पुरोडाश सान्नाय्य पशु तथा सोम ये प्रमुख हवियां मानी जाती हैं। परन्तु बडे आश्चर्य कि बात है कि सोम को हवि भी ब्राह्मण तथा वैदिकसंहिताओं में प्रतिपादित किया तथा देव भी तद्यथा कुछ प्रमाण वचन देखिये—

देवो हि सोमः। दिवि हि सोमः। शत० ३.६.४.२
हविर्वै देवानां सोमः। शत० ३.५.३.२
देवो वै सोमः। शत० ४.२.५.१६
देवो हि सोमः। शत० ३.६.४.१७
हविर्हि सोमः। शत० ११.४.१.१०

ऋग्वेद में भी—

एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते। ६.३.१
नृभिर्यमानो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्रियः ६.१०७.१६
चारु प्रियतमं हविः ६.३४.५
हविर्हविष्यु वन्धः। ६.७.२
सोम य उत्तमं हविः। ६.१०७.१
देवेभ्य उत्तमं हविः। ६.६७.२८

इन वैदिक प्रमाण वचनों के प्रकाश में यह सर्वथा विशद है कि सोम हवि तथा देव दोनों रूपों में वर्णित है। यह भी इन वचनों से स्पष्ट विदित होता है कि सोम अन्य हवियों से अधिक प्रशस्य तथा वन्द्य है। वैदिक वाङ्मय के सततानुशीलन से विदित होता है कि जब

सोम हवि सर्वथा पवित्र, दोष रहित तथा निष्पाप होकर यज्ञ श्रेष्ठ-कर्मात्म कार्यक्षेत्र में संलग्न हो जाता है तो वह देवत्व को प्राप्त करके स्वयं हविर्भाक् भी हो जाता है। बस सोम में पूर्ण देवत्व लाना ही सोमाभिषव का अभिप्राय है इसके लिये इसे पाषाणों की कडी मार से गुजरना पडता है ये पाषाण वो प्रत्यक्षतया क्रियमाण अभिषव में प्रयुक्त किये जाते हैं वस्तुतः उन विद्वान् तथा उनके द्वारा बनाई कठोर मर्यादाएं हैं जिनसे सोम निष्पाप होकर देव बन जाता है। अद्रि अथवा ग्रावों के प्रतीकार्थ ब्राह्मणकार ने स्पष्ट रूप से इस प्रकार दिये हैं—

(१) श्रोता ग्रावणोऽनु मे जानन्तु (यजु ६.२६) इति शृण्वन्तु म इदं ग्रावाणोऽनु मे जानन्तु इत्येवैतदाह विदुषोन यज्ञमिति विद्वांसो ग्रावाणः शत० ३.९.३.१४

(२) देवो ग्रावाणः। ताण्ड्यमहाब्राह्मण। २१.१०.१७

(३) वज्रो वै ग्रावा। शत० ११.५.९.७

(४) प्राणा वै ग्रावाणः। प्राणा वास्मिन्नेतद् दधाति शत १४२.२.३३

(५) क्षत्रं वै सोमः। विशो ग्रावाणः। क्षत्रमेवैतद् विश्यध्यूहति शत. ३.९.३.३

अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि ग्रावों द्वारा सोमाभिषव करना उसके दुर्गुण दुर्वासनाओं पर एक तरह का वज्र प्रहार है परन्तु यह वज्र प्रहार सोम का विघातक नहीं अपितु तपोयुक्त करके उसे प्राणवान बनाने के लिये है, क्यों कि अतप्त सोम यज्ञिय नहीं होता इसलिये उसे वज्र प्रहार सम तपस्यापूर्ण शास्त्रीय तथा लोक सम्मत मर्यादाओं द्वारा परिपक्व बनाना आवश्यक है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में इस तथ्य का प्रकाशन कितने रमणीय ढंग से किया है पाठकगण उस पर दृष्टिपात करें—

अभितां गावः पयसा पयोवृधं सोमं श्रीणन्ति मतिभिः स्वर्विदम्। धनञ्जयः पवते कृत्व्यो रसो विप्रः कविः काव्येना स्वर्चनाः ९-८५-५

अर्थात उस सोम को (गावः) गोरूपी वेदवाणी अपने (पयसा)

ज्ञान रूपी सूर्य से (पयोवृधं) ज्ञान से ही जिसका सम्यक् प्रकाश हुआ तथा जो ज्ञान को बढाने वाला सोम है उसको (अभिश्रीणन्ति) सर्वथा परिपक्व करती है जिसने इसी वेदज्ञान से सच्चे स्वर्ग को जाना या प्राप्त किया है। वह सोम निचशत्रुओं के धन का विजेता कर्त्तव्य परायण, आर्द्र हृदय, मेधावी, कवी और सबके लिये सुखप्रद खाद्य के समान सुखदायक है। जो अपनी ज्ञानविज्ञान गर्भित रसात्मक वाक् के द्वारा सबको पवित्र करता है।

मन्त्र से स्पष्ट है कि सोम को परिपक्व बनाने का तात्पर्य उसमें ज्ञान विज्ञान का आधान करना है सायण ने इस विज्ञान को न समझकर मन्त्रार्थ को कर्मकाण्ड तक सीमित करने का यत्न अपने भाष्य में किया है परन्तु विप्र तथा कवि आदि शब्दों का वह क्या करते जो स्पष्ट सोम के विशेषण मन्त्र में वर्तमान है। अतः सोम का अभिषव तथा पकाना आदि सब इसी विज्ञान के सूचक हैं कि विद्वान को निष्पाप तथा परिपक्व होना चाहिये। इसीलिये शतपथकार ने पुनः २ संकेत किया है कि—

श्रृतं वै देवानां हविर्नाश्रृतम्। शत० ३.२.२.१०

जो विद्वान् हवि का अर्थ व्रीहि यवादि ही ग्रहण करने में आग्रही हैं उन्हें शतपथ के इन वचनों का अर्थ चिन्तन करना चाहिये—

जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानां। शत० ३.८.२.४

हविर्वा एष देवानां भवति यो दीक्षते। शत० ३.३.४.६१

सोम कोई अलौकिक देव नहीं अपितु मर्त्य है—

सामान्य रूप से जन-मानस में यह बलिष्ठ धारणा है कि देव कोई अलौकिक देहधारी मनुष्येतर योनि के प्राणविशेष हैं। जो सदैव दुःख निर्भिन्न स्वर्गलोक में सर्वविध सुखवैभव का उपभोग करते हैं वैदिकवाङ्मय में भी बहुत्र उन्हें 'अमृत' तथा 'नाकसद' कहा गया है जिससे इस धारणा का और भी पोषण होता है। परन्तु जब हम वैदिक वाङ्मय का सूक्ष्मदृष्टि से अनुशीलन करते हैं तो वस्तुस्थिति इस धारणा से विपरीत दृष्टिगोचर होती है। इस प्रसंग मे हम पूर्व

लिख चुके हैं कि शतपथ के द्वितीय काण्ड में यह स्पष्ट लिखा है कि देवों के अन्दर अमृतत्व का आधायक तत्व अग्नि है जिस को देव अपने अन्तरात्मा में धारण करते हैं। भौतिक अग्नि का अन्तरात्मा में स्थापन तो कथमपि सम्भव नहीं अतः यह अनेक प्रमाण पुरःसर हम प्राक् स्थापित कर चुके हैं कि अग्नि का अर्थ इस प्रसंग में यथार्थ ज्ञान प्रकाश ही है। इसी तथ्य का सम्यक् निरूपण शतपथ-कार ने नवमकाण्ड में भी किया है। तद्यथा शतपथ वचन देखिये—

सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यदग्निः । तद्यदग्नावमृतमदधुः तदात्मन्नमृतमदधत । ततो देवा अमृता अभवन् । ६.५.१.७

सच्चाई यह है कि अग्नि = ज्ञान ही अमृत है अतः जो आत्मा इस ज्ञानाग्नि को अपने हृदय में धारण कर लेता है वह भी अमृत हो जाता है। क्यों कि यह ज्ञानाग्नि शरीर के विनष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती और आत्मा के साथ वर्तमान रहती है इसलिये अग्नि तथा आत्मा अमृत हैं। इस प्रसंग में शतपथ के ये वचन भी पठनीय हैं

अथ ये सर्वाणि रुपाण्युपधास्यथ अथामृता भविष्यथेति । ते तथा देवा उपदधुः । ततो देवा अमृता आसुः । (८)

स मृत्युर्देवानब्रवीत्—इत्थमेव सर्वे मनुष्या अमृता भविष्यन्ति अथ को मह्यं भागो भविष्यति इति । ते होचुः- नातोऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसद् । यदैव त्वमेतं भागं हरासै । अथ व्यावृत्य शरीरेणामृतोऽसद् योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वेति । यद्वै तद् अब्रुवन विद्यया वा कर्मणा वेति । एष हैव सा विद्या यदग्निः एतदु तत् कर्म यदग्निः । १०.४.३.६

द्वितीयकाण्ड के अग्न्याधान प्रकरण में भी इस प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं तद् यथा—

(क) तद्दर्यग्नी आदधीतापहतपाप्म नो देवा अप पाप्मानं हतेऽमृता देवा नामृतत्वस्याशास्ति सर्वमायुरेति यस्तर्ह्याधत्ते । शत २.१.३.४

(ख) अपहत पाप्मानो देवा अप पाप्मानं हतेऽमृता देवा नामृतत्वस्याशाऽस्ति सर्वमायुरेति । शत० २.१.४.६

(६)

इत्यादि ब्राह्मण वचनों से सर्वथा स्पष्ट है कि शारीरिक दृष्टि से कोई भी अमृत नहीं है। अतः सोम भी कोई शारीरिक दृष्टि से अमर्त्य देव नहीं है यद्यपि सोम ने भी अग्नि का आधान विधिवत् किया है अतः वह भी अन्य देवों के समान अमृत जीवन का यापन करता है। इसलिये वैदिक वाङ्मय में उसको अनेकत्र अमर्त्य कहा गया है तद्यथा ऋग्वेद के नवममण्डल में स्पष्टोद्घोष किया है—

"एष देवोऽमर्त्यः पर्णवीरिव दियते"। ९.३.१

अतः सोम भी अन्य देवों के समान ही महनीय देव है। परन्तु सोम अथवा अन्य देवों को किसी लोकवासी मान लेना कथमपि वैदिक धारणाओं के अनुलोम नहीं माना जा सकता। हम इस प्रसंग में एक यजुर्वेद का मन्त्र प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें स्पष्ट रूप से सोम को मर्त्य ही प्रतिपादित किया है। याजुष मन्त्र इस प्रकार है –

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्। न त्वदन्यो मघवन्नास्ति मर्डिता। इन्द्र ब्रवीमिते वचः यजु० ६.३७

इस मन्त्र पर शतपथ की व्याख्यानोक्ति इस प्रकार है— मर्त्यो हैतद् भवन्नुवाच। त्वमेवेतो जनयितासिनान्यस्त्वादिति

शत० ३.६.४.२४

यहाँ देवतावाद के प्रबल उपासक सायण का व्याख्यान भी देखिये

उक्तार्थ संवादत्वेन सोम प्रार्थनारूपं मन्त्रसंवाद दर्शयति- तत्रैतामपि वाचमुवाद त्वमङ्ग प्रशंशिष इति। तत्र तस्मिन् अभिषव काले एतां प्रार्थनारूपां त्वमङ्गेति वाचम्। उवाद उक्तवान्। हे शविष्ठ अतिशयेन बलवन् अङ्ग हे इन्द्र देव त्वं मर्त्यं मरणधर्माणं मां सोमं प्रशंसिषः प्रशस्तं कुरु आहुत्यात्मना विस्तायन देवात्मना पुनरुत्थापयेत्यर्थः..... हे मघवन् तत् त्वत्तः अन्य मर्डिता सुख- यिता नास्ति...। ३.६.४.२४ श० भाष्ये

इस याजुष मन्त्र तथा उसके शतपथ व्याख्यान एवं सायण के भाष्य से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि सोम कोई ऐसा अलौकिक देव नहीं अपितु वह भी मरणधर्मा है। यही कारण है कि वैदिक वाङ्- मय के पारदर्शी महर्षि दयानन्द ने अपने याजुष भाष्य में मर्त्य का

अर्थ प्रजास्य मनुष्य करके अपने वैदुष्य का सम्यक् परिचय दिया है। इस सारी विश्लेषणा का यही सार है कि सोम का जन्म इस धरा पर मातृ गर्भ से होता है तथा वह भी मरणधर्मा मानव है परन्तु इसने आचार्य कुल में अपने आपको तपाकर इस शाश्वत ज्ञानाग्नि को अपने आत्मा में धारण किया है जिससे यह शारिरिक दृष्टि से मर्त्य होते हुये भी अमर्त्य अमृत कहलाता है जो लोक इस अग्नि से शून्य हैं वे जीते हुये भी मृत हैं उनका जीवन निष्फल है। यही विज्ञान देवों के मर्त्य तथा अमर्त्य होने का है। अन्य सब कल्पना अविचारित रमणीय तथा निर्मूल हैं।

इन्द्र का सोमपान—

वैदिक वाङ्मय में इन्द्र तथा सोम का घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। शताधिक स्थानों पर यह उल्लेख मिलता है कि सोम का अभिषव इन्द्र के लिये किया जाता है। यथा ऋग्वेद के नवम मण्डल में असकृत् इस प्रकार का उल्लेख पाते हैं, यथा—

(१) इन्द्राय सोम सुषुतः। ९-८५-१
२) अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे। ९.८८.१
(३) सोमो मरुत्वते सुतः। ९.१०७.१७

वैदिक वाङ्मय के अवलोकन से यह भी सर्वथा विस्पष्ट है कि इन्द्र इस सोम का पान करता है। तद्यथा कुछ मन्त्र निर्देश प्रस्तुत हैं-

(१) इन्दुमिन्द्राय पीतये। ९.६५.८
(२) स्वदस्वेन्द्राय पवमान पीतये। ९.७५.६
(३) इन्द्र सोम मिमं पिब। १०.२५.१

ब्राह्मणवाङ्मय में भी इन्द्र द्वारा सोम के पान का वर्णन बहुत्र दृग्गोचर होता है। सोम का पान केवल इन्द्र ही करता हो ऐसी बात भी नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में सोमपान करने वाले ३३ (तैंतीस) देवताओं का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है।

त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः सोमपाः । त्रयस्त्रिंशद् असोमपाः । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः । द्वादश आदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च एते देवाः सोमपाः । एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा एते असोमपाः ।

ऋग्वेद में भी ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनसे विज्ञात होता है कि सोम केवल इन्द्र को ही तृप्त नही करता है अपितु अन्य देव भी सोम से तृप्त होते हैं यथा ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र पर दृष्टिपात कीजिये - मत्सि सोम वरुणं मत्सि मित्रं मत्सीन्द्रमिन्दो पवमान विष्णुम् । मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि महामिन्द्रमिन्दो मदाय । ऋग्वेद ६.६१.५

अतः विशद है कि सोम का पान प्रायः सभी देव करते हैं । सोमपान के प्रसंगों पर विचार करने से विज्ञात होता है कि सोम का पान वैसे तो सभी देव करते हैं परन्तु इन्द्र क्योंकि यज्ञ में सबसे वरिष्ठ देव है अतः प्राधान्येन सोम का पान वही करता है ।

इन्द्र का स्वरूप—

अनेक वैदिक वचनों के आलोक में यह प्राक् सिद्ध किया जा चुका है कि इन्द्रादि देव किसी लोकान्तर के विशिष्ट देहधारी प्राणी नहीं अपितु वे इस पृथिवी लोक के वासी पुरुष विशेष ही हैं । शतपथकार ने सर्वथा असन्दिग्ध शब्दों में इन सोमपायी या सोम से यज्ञ का सम्पादन कर्त्ता इन देवों को पृथिवी वासी बताया है तद्यथा शतपथ वचन देखिये—

'दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवाः" । ३.६.४.१

इस प्रसंग के व्याख्यान में महादेवतावादी आचार्य सायण ने भी इह का अर्थ "पृथिव्याम्" किया है । अतः इन्द्रादि सब देव इस पृथिवी लोक में यज्ञिय कर्मों के अनुष्ठाता हैं । इन्द्र इन देवों में एक बहुत ही शक्तिशाली क्षत्रीय देवता है । वैदिक वाङ्मय में इसका माहात्म्य स्थाने स्थाने उपलब्ध होता है । वैदिक वाङ्मय के वचनों के प्रकाश में यह लिख देना सर्वथा युक्त है कि इन्द्र यज्ञ में सबसे महनीय

हविर्भाक् श्रेष्ठ देव है जो आसुरी शक्तियों से लडने में सदैव देवों का नेतृत्व करता है। इसलिये इन्द्र के विषय में शतपथकार ने विस्पष्ट शब्दों में इसप्रकार उल्लेख किया है—

१-इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता। १.४.५.४

२-ते होचुः केनैव यत्त्व् यं केनानीकेन योत्स्याम इति। स हेन्द्र उवाच मया राज्ञा मयानीकेनेति। २.६.४.४

३-स्वध्यक्षाय असदित्येवैतदाहयदाहेन्द्रायाध्यक्षायेति। ३.२.४.२०

४ त इन्द्रस्य श्रियाऽतिष्ठन्त तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति। ३.४.२.२

५-इन्द्रो वै मघवान् इन्द्रो यज्ञस्य नेता। ४.१.३.१

६- अतिष्ठां वा इन्द्रः। ५.३.३.६

इसी प्रकार काठक संहिता २१-११ में इन्द्र को देवताओं में भूयिष्ठभाक निरुपित किया है। तैतिरीय सहिता में 'इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः" (२३-१-३) कहकर इन्द्र को महनीयत्व प्रतिपादित किया है।

अतः असन्दिग्ध मन से यह कहा जा सकता है कि यज्ञ में इन्द्र एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है। जैसे हमारे शरीर में जो स्थान इन्द्रियों के मध्य में आत्मा का है वही स्थान श्रेष्ठकर्मात्मक यज्ञ में इन्द्र का है। यदि हम देव भावयुक्त लोगों के राष्ट्रसंचालन को एक यज्ञ मान लें तो उसमें राष्ट्राध्यक्ष का काम इन्द्र का होगा। अतः आचार्यकुल से स्नातक बनकर इस राष्ट्र यज्ञ के बिस्तार के लिये आने वाले प्रत्येक नवयुवक विद्वान जिसको वैदिक भाषा में 'सोम' कहा गया है वस्तुतः राष्ट्राध्यक्ष इन्द्र के लिये समर्पित किया जायेगा। उसी की अध्यक्षता में इन विद्वानों को अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार प्रत्येक विभाग में उन विभागाध्यक्षों के कार्य के लिये समर्पित होकर यज्ञ हवि बनना पडता है। ये देव सोम की कार्य शक्ति रूपी रस का पान करके अपने राष्ट्र को स्वर्ग बनाते हैं जिससे राष्ट्राध्यक्ष इन्द्र का यशोवर्धन होता है अतः इन्द्र ही मानो सोम का पान करके प्रतोष्ठागत होता है इन्द्र के सोम पान का यही संक्षिप्त रूप में सार है। क्यों "कि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"।

सोम के त्रिविध कार्यक्षेत्र—

जैसा कि सुदृढ प्रमाण वचनों से सिद्ध किया जा चुका है कि सोम का प्रतीकार्थ आचार्यकुल से स्नातक होकर आनेवाला विद्वान है। यह विद्वान् अपने गुणकर्म एवं स्वभाव के अनुसार विविध क्षेत्रों में कार्य करते हैं। अतः अनेक गौणिक नाम के भूषणों से सोम को हम वैदिक वाङ्मय में सुभूषित पाते हैं। विस्तार भय के कारण हम अति संक्षेप में ही सोम के विविध कार्यकलाप तथा गुणों का वर्णन यहाँ प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—

१- सोम एक आदर्श गृहस्थ के रूप में—

आचार्य कुल से स्नातक होकर सोम विधिवत् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। देवजन उसके इस कार्य में पूरा २ सहयोग देते है तथा उसको सुयोग्य कन्या प्रदान करते हैं जिसको ब्राह्मण ग्रन्थों में सोमक्रयणी कहा गया है। सोम गृहस्थ जीवन में रहते हुये भी सर्व-भावेन यज्ञ के लिये समर्पित रहता है। इसलिये शतपथ में उसे स्पष्ट रूप से यज्ञ रूप कहा है। शतपथ का वचन इस प्रकार है।

"सोमोवै राजा यज्ञः प्रजापतिः" १२.१.१.१

२- सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा—

सोम अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर आचार्यकुल से विशाल ज्ञान राशि का लाभ करके समाज में आने वाले इस ज्ञानाग्नि के तेज से देदीप्यमान बभ्रु सोम को ब्राह्मण लोग अपने बीच पाकर बडे प्यार से इसको अपना राजा स्वीकार करते हैं। वस्तुतः इसके मुख-मण्डल पर आग्नेय तेज के साथ आर्द्रता नम्रता एवं विनयशीलता की स्पष्ट प्रतीति होती है इसलिये शातपथी श्रुति मुखरित हो पडी कि—

"अग्निर्वै वर्चः सोमः" ५.२.५.१०

बडे बुढे वृद्ध विद्वानों ने भी बडी खुशी के साथ इस सोम के लिये अपने आसन खाली कर दिये हैं और कहा- यह ऋग्वेद की पीठ है

यह यजुर्वेद की विद्या की आसन्दी है आइये अब हम द्युलोक (वानप्रस्थ) में प्रवेश करते हैं इस लोक का साम्राज्य तुम संभालो। और मानो प्यार से उनके मुख से निकल पड़ा—

"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा"

३- सोम क्रान्तदर्शी-महान्‌कवि—

सोम एक महान् कवि है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को अपने प्रातभि ज्ञान से प्रत्यक्ष कर लेता है। वह दूर द्रष्टा महान् कवि है इस लिये ऋग्वेद में एक दो बार नहीं अपितु कितने ही मन्त्रों में कवि कहकर उसे सम्बोधित किया है। कुछ मन्त्र तो अत्यन्त मनोहारी वर्णन करते हैं- यथा देखिये—

(१) 'सुवासो याति कविक्रतुः' ९.९.१

अर्थात यह सोम कविप्रज्ञ है यह कुछ न कुछ सार निकालता ही चलता है।

(२) 'आ पवस्व मदिन्तमः पवित्रं धारया कवे"। ९.५०.४

अर्थ-हे आनन्दातिरेक के वर्धक कवि सोम! तू अपनी पवित्र वाणी से हमें पवित्र कर। (धारा पदं वाङ्‌नामसु पठितम्)

(३) त्वं सोम पवमानो विश्वानि दुरितानितर। कविः सीद निबर्हिणि। ९.५९.३

अर्थ हे सोम! यह आसन तुम्हारे लिये है इस पर बैठो, तुम पवित्र करने वाले कवि हो हमारे सब दुरितों को दूर करो। (तर-निराकुरु इति सायणः)

४-पवमानः ऋतः कविः सोमः पवित्रमासदत्। दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम

१९.६.२३

अर्थ- शास्त्रों की व्याख्या करके उसमें नवजीवन प्रदान करता हुआ सोम पवित्र करने वाला, सत्यसेवी कवि वस्तुतः पवित्रता प्रदान करता है। इसी प्रकार ९.९७.२ में सोम को भद्रवेशभूषा को धारण करने वाला महान् कवि बताया गया है। जो विद्वानों की समरभूमि शास्त्रार्थ स्थल में गम्भीर वचनों का आघोष करता हुआ सुशोभित होता है।

मन्त्र इस प्रकार है—

भद्रावस्त्रा समन्या वसानो महान् कविर्निवचनानि शंसन् ।
आ वच्यस्व चम्बोः पूयमानो विचक्षणो जागृविर्देववीतौ ।।

सोम एक महान् विद्वान् के रूप में—

वैदिक वाङ्मय में सोम को एक महान् विद्वान्, वक्ता तथा मनीषी के रूप में भी विशद रूप से स्तुत किया है। आचार्य कुल में जिन मेधावी तथा सत्यधर्मी छात्रों ने ब्राह्मणवर्ण में दीक्षित होकर जो ज्ञानविज्ञान समन्वित निष्ठा अधिगत की अब वे स्नातक होकर कार्यक्षेत्र में अपने महान् वैदुष्य एवं तेजस्वीता से प्रतीष्ठा को प्राप्त करते हैं। अतः ऋग्वेद के नवम मण्डल में एक विचक्षण मनीषी के रूप में सोम को बार-बार प्रस्तुत किया है। उनका विवरण इस प्रकार है—

विचक्षणः—१२-४, ३७-२, ५१-५, ६६-२३, ७५-२, ८५-९ २६-१९, ८३-२३, ८६-३५, ९७-२७, १०७-३, १०७-१६, १०७-२४, १०७-१६,

विपश्चित्—१२-३, ३३-१, ८६-३५, ८६-४४, १०१-१२,

ऋषि—८७-३, ९६-१८, १०७.७, ३५ ४,

विप्र—१३-२, ८४-५, ८७-३, ९७-३७, १०७-६, १०७-७,

ब्रह्म—९६-५, ९६-६,

ऋषिकृत्—९६-१८,

सहस्रणीथः—९६-१८,

मनीषी—९७-५६, ८३-३, १०७-१४,

वाचस्पति—१०१-५,

गातुवित्तमा—४४-६, १०१-१०, १०४-५,

स्वर्विदः—८९-४, १०७-३, १०७-१४,

भूरिचक्षा—२६-५,

विश्ववित्—२७-३, ८६-२९,

धर्म वस्पतिः—९-३५-६,

क्रतुविदः—४१-६, ६३-२४,

गातुवित्—४६-५

विद्वान् - ७७-४

वक्ता—७५-२

ब्राह्मणस्पतिः - ८३-१

ये सब विशेषण स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि वैदिक वाङ्मय में वर्णित सोम कोई पौधा नहीं अपितु कोई महान् विज्ञानवेत्ता विद्वान् है। यह सोम केवल विद्वान् ही नहीं अपितु सत्य का महान् पोषक तथा सत्यकर्मा महाव्रती है। तद्यथा नवम मण्डल में सोम के कुछ और विशेषण देखिये—

पुरुव्रतः —३-१०,

सुव्रतः—२०-५,

महिव्रतः—४८-२, ९-५६-७,

सत्यशुष्म—९७-४६

सत्यकर्मन्—११३-४,

इन सब विशेषणों की विश्लेषणा से विस्पष्ट हो जाता है कि सोम सत्यकर्मा है तथा सत्य ही उसका महान् बल है। अतः सोम एक आदर्श पथ प्रदर्शक ब्राह्मण है।

सोम क्षत्रीय के रूप में—

आचार्यकुल में शिक्षित दीक्षित होने वाले छात्रों में जहाँ कुछ आदर्श ब्राह्मण बनने की साधना करते हैं वहीं कुछ अन्याय अत्याचार को उन्मूलित करने की दीक्षा लेते हैं तथा उसी के अनुकूल शिक्षा साधना पूर्ण करके ये आचार्य कुलरूपी द्युलोक से पृथिवी अर्थात् कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं। यही कारण है कि सोम को ब्राह्मणों में बहुत्र क्षत्र कहा है तद्यथा—

(१) क्षत्रं वै सोमः, विडन्या ओषधयः। अन्नं वै क्षत्रस्य विट्।

शत० १.३.३.३

(२) क्षत्रं वै सोमः । क्षत्रं त्रिष्टुप् । शत० ३.४.१.१०
(३) यशो हीं सोमः क्षत्रं पयोग्रहा । शत० १२.७.३.१४
(४, क्षत्रं वै सोमः । जै० ब्रा० ३.२४
(५) क्षत्रं तु सोमः । ऐतरेय ब्रा. २.३८

यही कारण है कि ऋग्वेद में सोम के इस प्रकार के विशेषण स्थान-२ पर दृष्टिगोचर होते हैं जो सोम को एक वीर शत्रु जैसा तथा पापियों का नाश करने वाला आदर्श क्षत्रिय योद्धा द्योतित करते हैं उन विशेषणों का विवरण निम्न प्रकार से है—

(१) चमुषद् ९-१-२
(२) स्वायुधः ९.१५.८, ९.३१.६, ९.९६.१६,
(३) अघशंसहा ९.२४.७
(४) सर्ववीरः ९.९०.३
(५) जेता ९.९०.३
[६] तिग्मायुधः ९.९०.३
[७] क्षीप्रायुधः ९.९०.३

प्रस्तुत विश्लेषणा से सर्वथा स्पष्ट है कि सोम जिसका निर्माण द्युलोक में महाविद्वान् आचार्यों के द्वारा किया गया था स्नातक होकर वह अपनी योग्यता के अनुरूप विविध कार्यक्षेत्रों में अपने आपको समर्पित करके सर्वोत्तम हवि बनते हैं। ये सोम यज्ञ के प्रत्येक देव को अपने ज्ञान एवं पुरूसार्थ से तृप्त करते हैं इसलिये काठकसंहिता में सोम को सर्व देवता ३८ कहा है। सामवेद में एकत्र इसका सर्वाङ्गीण वर्णन अतीव मनोहारी शब्दों में इस प्रकार किया है

शिशुं जज्ञानं हर्य्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन ।
कविर्गिर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोम पवित्रमत्येति रेभन ।।
ऋषिमना यः ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिपासन्त्सोमो विरामनुराजति ष्टुप् ।।
चमुषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि विभ्रत् ।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ।।

इस मन्त्रों का अर्थ वैदिक वाङ्मय के कविहृदय महान् विद्वान् स्वामी समर्पणानन्द (पं. बुद्धदेव विद्यामार्तण्ड) ने अपने शतपथ भाष्य की भूमिका में अतीव मनोहर शब्दों में इस प्रकार किया है —

"वह सोम 'हविः' है सबका वात्सल्य भाजन है सबका प्रेमपात्र है। जब से वह जन्मा था नन्हा शिशु था तबसे उसे मांजते आये हैं। वह विप्र मेधावी है। सैनिक लोग अपने गण में रखकर उसे सुशोभित करते हैं। वह अनेक विद्याओं का अनेक भाषाओं का पण्डित है। कविता करता हुआ बड़ी पवित्र भावनाएं लिये हुये सभा में प्रवेश करता है उसका मानसिक विकास हुआ है। उसका मन ऋषियों का मन है। वह आगे भी ऋषि पैदा करेगा। क्यों कि वह स्वयं 'स्वर्षाः' सूक्ष्मदर्शी है। हजारों को रास्ता दिखाने वाला है। कवियों की पगडण्डी है। वह विराट् अर्थात् प्रजा में शोभा पाता है और फिर पीछे से विद्या बांटने की भावना से वह महान् सोम तृतीयधाम अर्थात् वानप्रस्थ में स्तम्भ के समान विराजमान होता है। यदि वह क्षत्र धर्म धारण करता है तो शक्तिशाली सबका विभृत्वा (भरण करने वाला क्वनिप्) होकर सेना में प्रवेश करता है और शस्त्रधारण करता हुआ नई नई भूमि लाभ करता है और ऐस्वर्य रस में सबको स्नान कराता है। यदि वही महान् सोम तुरीयधाम अर्थात् सन्यास में प्रवेश करता है तो फिर वह नदी, पर्वत और समुद्र की सीमाओं से ऊपर उठ जाता है उसका कोई स्वदेश नहीं रहता वह समुद्र तरङ्गों में बिहार करता हुआ देश देशान्तरों में शास्त्र का विवेचन करता है"।

इस लेख को समाप्त करने से पूर्व हम पाठकों का ध्यान एक और प्राचीन ग्रन्थ की ओर खींचना चाहते हैं, जो कि पारसियों की पवित्र पुस्तक (Sacred scripture) अवेस्ता के नाम से विख्यात है। अवेस्ता के अनुशीलन से विदित होता है कि यह वैदिक ग्रन्थों के अति निकट युगीन का कुछ अपभ्रंश ग्रन्थ है। जिसमें वैदिक देवों के विषय में कुछ मिलता-जुलता ही उल्लेख उपलब्ध होता है। सोम के विषय में भी अवेस्ता में बहुत्र उल्लेख उपलब्ध होता है। भाषा विज्ञान के विकार नियमानुसार स का ह होकर सोम को

होम नाम से वर्णित किया है। हमने जब अवेस्ता के सोम विषयक स्थलों का अनुशीलन किया तो वैदिक सोम तथा अवेस्ता के सोम विवरणों में पर्याप्त साम्य उपलब्ध हुआ। जैसा कि हमने अपने लेख में पुंखानुपुंख पुष्ट किया है कि वैदिक सोम वस्तुतः एक चेतन विद्या-सम्पन्न विद्वान का वाचक है। अवेस्ता का सोम वर्णन भी हमारी इस धारणा के अनुलोम प्रवृत्त हुआ है। यथा कुछ अवेस्ता सन्दर्भों का अनुवाद (पं राजाराम के द्वारा किया हुआ) पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ।
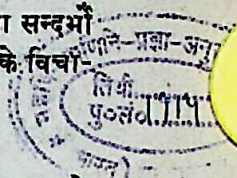
"सवन के समुचित समय पर सोम जरथुश्त्र के पास आया जो कि यज्ञन के लिये अग्नि का संस्कार कर रहा था और गाथाओं का उच्चारण कर रहा था। उससे (सोम से) जरथुश्त्र ने पूछा-हे नर तू कौन है जिसको मैं समस्त देहधारी जीवलोक में श्रेष्ठ अपने अमर जीवन से देदीप्यमान देख रहा हूँ।" अवेस्ता ह होम यश्न ६-१.

इस अवेस्ता के सन्दर्भ से सर्वथा विशद है कि सोम एक ऐसा नर है जो देहधारियों में अत्यधिक दीप्तिमान है। और भी देखिये -

"तब मुझे उस सोम ने जो दिव्य नियम वाला और फैले तेज वाला है उत्तर दिया। मैं हूँ हे जरथुश्त्र दिव्यनियम वाला दूर फैले हुये तेजवाला सोम"। (६-२)

जैसे ऋग्वेद में सोम को ऋतजात ३१ कहा है, वैसे ही अवेस्ता का वर्णन भी देखिये—

जरथुश्त्र ने कहा-नमस्कार है सोम को बडा उत्तम रचना वाला ऋत से उत्पन्न हुआ। उत्तम शक्तियों से रचा हुआ स्वास्थ्य देने वाला सुन्दर आकृति वाला, उत्तम कर्मों वाला शत्रुओं को मारने वाला है"। ६-१६

क्षत्रधर्मी सोम का वर्णन यथा वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है वैसे ही अवेस्ता में भी दृष्टिगोचर होता है यथा देखिये—

हे सोम घर के मालिक, ग्राम के मालिक, प्रान्त के मालिक देश के मालिक और अपनी पवित्रता से विद्या के मालिक! मैं तुझे शक्ति के लिये शत्रुओं को मारने के लिये अपने आपके लिये और उस रक्षा के लिये जो वस्तुओं को बचाने वाली है बुलाता हूँ। ९-८७

हे सुनहले सोम! तू यज्ञ करने वाले की रक्षा के लिये हरे भयानक विष उगलने वाले सर्प के विरुद्ध अपना शस्त्र मार। हे सुनहले सोम! धर्मपर चलने वाले के शरीर की रक्षा के लिये घातक अधर्मी लहू के प्यासे क्रोध से भरे के विरुद्ध अपना शस्त्र मार। ९-३०

अवेस्ता के इन वचनों से स्पष्ट है कि अवेस्ता के काल में भी सोम को एक चेतना रक्षक तथा विद्या सम्पन्न पुरुष समझा जाता था। यह सम्भावना की जा सकती है कि अवेस्ता किसी प्राचीन शाखा का ही अपभ्रंश रूप हो अतः उपलब्ध प्राचीन वाङ्मय के अनुशीलन से स्पष्ट यही प्रतीति होती है कि सोम जिसका मूलमन्त्रों में विस्तरेण वर्णन किया गया है मात्र कोई औषधि नहीं था इस लिये ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह तथ्य स्वयं प्रकाशित कर दिया गया है कि जो लोग केवल किसी पौधे विशेष को ही सोम समझ कर उसके रस के पान में ही अपने को कृतकृत्य मान रहे हैं वे पूर्णरूपेण भ्रम में हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

"सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिपन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्राह्मणा विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ १०·८५-३

मन्त्र का ग्रिफिथ अनुवाद इस प्रकार है—

One thinks, when they have braved the plant that he hath drunk the Soma's juice of him whom Brahmanas truly know as Soma no even tastes.

उपसंहार—
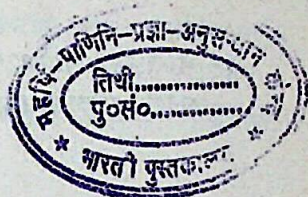
हमने सोम का यह विस्तृत विवरण सोम के विषय में विज्ञ पाठकों के समक्ष सर्वथा निरपेक्ष दृष्टि से प्रस्तुत किया है। यद्यपि सोम का वर्णन वैदिक वाङ्मय के विशाल क्षेत्र में हुआ है जिसका साकल्येन निरुपण इस लघु लेख में कथमपि सम्भव नहीं तथापि हमने यथा सम्भव वैदिक वाङ्मय के कुछ न कुछ अभिष्ट अर्थों के प्रकाशन का यत्न किया है। हम यह तो नहीं कह सकते कि हमने जो कुछ लिखा है वही पूर्णरूपेण सही या पत्थर की लकीर है परन्तु पूर्ण विश्वास के साथ यह सार रूप में कह सकते हैं कि वैदिक वाङ्मय में वर्णित सोम मात्र एक पौधा नहीं अपितु वह ज्ञान विज्ञान से आप्यायित चेतन तत्व है। उसके प्रतीक के रूप में वर्णित सोम नामक वल्ली या वनस्पति भी निश्चित रूप से मादक (Introxication) नहीं अपितु (Invigorating) शक्ति दायक है।

★ विशेष टिप्पणीयां ★

१- साक्षात्कृत धर्माण: ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्त ...इत्यादि ।
निरु १.६.२०

२- कानिपुन: शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ? रक्षोहागमलघ्वसन्देहा: प्रयोजनम् । महाभाष्य पस्पशाह्निक

३ कृत्यल्युटो बहुलम् । अष्टा० ३.१.११३

४- धातुपाठ भ्वादिगण

५- अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् ।
उणादि कोश १-१४०

६- अभिषव:-स्वपनपीडनस्नानसुरासन्धानादि: ।

७- एष वै सोमो राजा देवानामन्नम् । शत० ११.१.३.३

८- द्र० निरुक्त १३-२८, २६ खण्ड

६- अथाध्यात्मं विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं महान्तं पलितं आत्मा.... नि० १३-१३ । इन्दुरिति सत्यगतिमाचष्टे नि० १३-२६.

१०- सोमो वै इन्दु । शत० ७.५.२.१६,

११- शत० ४.४.३.४.

१२- शत० ३.३.४.२५.

१३- शत० ६.५. १.१.

१४- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रश्नोत्तर विषये पृष्ठ ३७८ वैदिक यन्त्रालय दशम सस्करण

१५- (क) आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेयाऽनुयाजा इति च ब्राह्मणम्
निरु० ८.२.२१

(ख) आप्रिभिराप्रीणातीति च ब्राह्मणम् । नि० ८.२.४

(ग) यथो एतत् ब्राह्मणं भवति । नि० ७.७.२४

(ख) [illegible] तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् इति ब्राह्मणम् । नि० ७.५.१६

१६- यथा तृणापसन्-का फल देखिये-तन्नाष्ट्रा एवैत द्रक्षांसि अपो. हन्ति । शत० १.१.२.१५

१७- द्रष्टव्य शतपथ विज्ञान भाष्य का परिभाषा प्रकरण तथा शतपथ में एक पथ ।

१८- द्र० ६.१४.४ मन्त्र भाष्य

१६- शत० ५.२.५.१०

२०- शत० ३.२.४.१०

२१- मूत्रं सुरा शत० १२.६.१.१

२२- स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्या भ्रूणहत्या सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा पातकेऽनृतोद्यमिति ।

निरु० नैगमकाण्ड ६.५

२३- द्र. ब्रह्महत्या सुरापानम् इत्यादि मनु. ११.५४

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् । मनु. ११.६०

सुरा वै मलमन्नाजाम् पाप्मा च मलमुच्यते । मनु. ११.६३

२४- (क) चन्द्रमा उ वै सोमः । शत. ६.५.१.१

(ख) सोमो राजा चन्द्रमा । शत. १०.४.२.१

२५- सुश्रुत चिकित्सा स्थान अध्याय २६ श्लोक २०.

२६- हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा

श्री पर्वते देवगिरौ देव सहे तथा ।

परियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा

उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधरा । इत्यादि सु० चि० स्था०

२६.२७ २८

२७- द्र० ११-१ निरुक्त भाष्य

२८- नाम च धातु जमाह निरुक्ते ।

नाम खल्वपि धातुजम् । एवमाहुर्नैरुक्ता ।

व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।

वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । महाभाष्य ३.३.१

तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च ।

निरुक्त १४.१२.

२९- इयं पृथिवी) वा अदितिर्मही । शत० ६.५.१.१०

इयं (पृथिवी) अदितीः । मैत्रायणी स० ४.४.६

३०- प्रीतया (सोमक्रयण्या) सोमं क्रीणानीति । शत० ३.२.४.१५

३१- गवा ते क्रीणामीति । शत० ३.३.४.३

३२- सोमो वधूयुरभवत् ऋ० १०.८५.९ अथर्ववेद १४.१९

३३- (क) एष स्य मद्यो रसोऽवचष्टे दिवः शिशुः । य इन्दुर्वारिमा-
माविशत् । ९.३८.६ दिवः शिशुः द्युपुत्र इति सायणः ।

(ख) द्र० वेंकट ऋग्भाष्य २.३३.५

ऋटकूदरः सोमो मृदूदरो मृदूरुदरेस्विति वा । नि० ६.१.४

३४- (क) अथ तुषान् प्रहन्ति "अपहतं रक्षः" इति तन्नाष्ट्रा एव तद्रक्षांसि अतोऽपहन्ति । शत० १.१.४.२१

(ख) नैऋत्या वै तुषाः शत० ७.२.१.७

३५- कृ गृ शृ पृ कृटिभिदिच्छिदिभ्यश्च । उणादिकोश ४.१४३
इस सूत्र से 'इ' प्रत्यय होकर गिरि शब्द बनता है ।

३६- कृग्रोरुच्च । उणादिकोशः १.२४

३७- (क) यजु० ५-१। मन्त्रभाष्य पदार्थे

(ख) निघन्टु १.१०

३८- सर्वदेवत्यो वै सोमः । काठक सं. २७.१

३९-द्र० मन्त्र ९-३६-३, ९-९-३

★ परिशिष्ट ★

सोम के स्वरूप विषयक कुछ आवश्यक आप्त वचन—

(१) वाचा वै सोमः सूयते । शत० १२-८-२-१६

(२) स सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायाम् इति । कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति । बृहदारण्यकोपनिषद्-३-६

(३) चत्वारो वै वर्णाः...... नैतेषां कश्चन य सोमं वमति ।
शत० ५.५.४.६

(४) अग्नि षोमौ वै देवानां सह युजौ । शत० ३.४.४.६

(५) सोमो गिर्भिः परिष्कृतः । ऋग्वेद ९.४३.३

(६) ऋतावाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः । ऋ० ९.४३.३

(७) हरिः (सोमः) वनेषु सीदति । ऋग्वेद ९.७.६

(८) इन्द्रं वर्धन्ति कर्मभिः (सोमाः) ऋग्वेद ९.४६.३

(९) सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा (यजु० ९.४) महर्षि दयानन्द इसका अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस प्रकार करते हैं—

"वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यो योग्यो गुणसम्पन्नः सकल विद्या युक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृत स्यात् । पृष्ट २५७ राज सं. रामलाल कपूरट्रष्ट

(१०] सोम के विषय में अरविन्द की [सम्मति—

Some is a figure for the divine Ananda the prnciple of bliss from whis in the vedic coneption the existence of man this mental being is drawn the some wine symbolises the replacing of our ordinary sence enjoyment by the divine Ananda.. Some is the represatative duity of the highest Beutifudo. Key to vedic symbolism p. 7.